"हिंदी उपन्यास : भारतीय (अनूदित) उपन्यासों के संदर्भ में (1980-2000)"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0फिल्0

उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

प्रो0 (डॉ0) मीरा श्रीवास्तव

(पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधार्थी

घनश्याम राय

हिंदी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2002

FOUNDER / DIRECTOR
Dr. MEERA SRIVASTAVA

SRI AUROBINDO FOUNDATION

श्री अरविन्द न्यास

89, TAGORE TO
ALLAHABAD-21
TEL. 0532-~~6106~~ 465

DATE . . . . .

अग्रसारित प्रमाण-पत्र

मैं सहर्ष प्रमाणित करती हूँ कि श्री घनश्याम राय ने डी0फिल्0 उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध जिसका विषय "हिन्दी उपन्यास : भारतीय (अनूदित) उपन्यासों के संदर्भ में (1980-2000)।" है, मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। इन्होंने शोध संबंधी सभी नियमों-निर्देशों का निष्ठा से पालन किया है। इनकी उपस्थितियाँ भी निर्धारित नियमों के अनुकूल हैं।

शोधार्थी द्वारा जिन निष्कर्षों और मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है, प्रायः वे मौलिक हैं। मुझे इनके डी0फिल्0 उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के समक्ष प्रस्तुत करने में कोई आपत्ति नहीं है।

दिनांक ....

(प्रो0 मीरा श्रीवास्तव)
24/11/2002

अनुक्रमणिका

अध्याय		पृष्ठ-संख्या
	भूमिका	ii-v
प्रथम अध्याय	आज के साहित्य/जीवन में	
	साहित्य की अन्य विधाओं से उपन्यास की तुलना	2–3
	महाकाव्य का उपन्यास में स्थानान्तरण	4
	उपन्यास की श्रेष्ठता महाकाव्य की तुलना में	4–7
	दो दशकों के संदर्भ में भारतीय उपन्यासों की संवेदना	7–10
	भारतीय उपन्यासों में आधुनिकता	10–24
द्वितीय अध्याय	विषय परिधि के भीतर विवेच्य हिंदी उपन्यासों की सूची एवं सामान्य परिचय	26–61
	विषय परिधि के भीतर विवेच्य भारतीय भाषाओं से अनूदित उपन्यासों की सूची एवं सामान्य परिचय	62–76
तृतीय अध्याय	क्षेत्रीयता और भारतीयता	78–108
	क्षेत्रों के मनोविज्ञान का औपन्यासिक अध्ययन	
चतुर्थ अध्याय	हिंदी उपन्यासों और अनूदित उपन्यासों का तुलनात्मक मूल्यांकन	110–135
पंचम अध्याय	अनूदित उपन्यासों के विशेष संदर्भ में हिंदी उपन्यासों की निजता एवं विशेषता	136–156
षष्टम् अध्याय	हिंदी तथा अन्य भारतीय उपन्यासों में अखिल भारतीय एवं राष्ट्रीय संदर्भ	158–173
	उपसंहार	175–177
	संदर्भ	179–193

✤✤✤

भूमिका

यह तथ्य कटु सत्य है कि साहित्य समाज का दर्पण है, और साहित्य का संस्कृति के साथ अन्योन्याश्रित सम्बंध है। लेकिन बहुत दुर्भाग्य की बात यह है कि हम यूरोपीय, अमेरिकन अर्थात् पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति की जानकारी तो रखते है लेकिन अपने बहुभाषी देश की भाषाओं के, यहॉ तक कि पडोसी भाषा के साहित्य एवं संस्कृति से प्रायः अपरिचित है और किसी हद तक उदासीन भी। इस परिस्थिति मे भारतीय उपन्यासों का अध्ययन हिंदी क्षेत्र के अध्ययन को न केवल व्यापकता की ओर ले जाता है, बल्कि अपने को उस दर्पण में देखकर भारतीयता के नये संदर्भ भी तलाश करता है। इसके लिए मेरी गुरू श्रद्धेया प्रो० मीरा श्रीवास्तव (पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग–इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) ने ''हिंदी उपन्यास : भारतीय (अनूदित) उपन्यासो के संदर्भ में(1980–2000)" विषय पर शोध कार्य करने की प्रेरणा दी और मुझे निर्देशन प्रदान करने की स्वीकृति दी।

''हिंदी उपन्यास : भारतीय (अनूदित) उपन्यासों के संदर्भ में (1980–2000)" विषय पर विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व इसके अध्ययन से सम्बंधित अध्यायों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

इसके प्रथम अध्याय में आज के साहित्य जीवन में साहित्य के अन्य विधाओं से उपन्यास की तुलना, महाकाव्य का उपन्यास में किस प्रकार से स्थानान्तरण हुआ, तथा उपन्यास की क्या श्रेष्ठता है महाकाव्य की तुलना में। दो दशकों के संदर्भ में भारतीय उपन्यासों की संवेदना तथा इन्हीं दो दशकों के भारतीय उपन्यासों की आधुनिकता पर भी विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में विषय परिधि के भीतर विवेच्य हिंदी तथा भारतीय भाषाओं से अनूदित उपन्यासों की सूची एवं उनका सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में क्षेत्रीयता और भारतीयता के अंतर्गत हिंदी तथा अनूदित उपन्यासों के

मनोविज्ञान का औपन्यासिक अध्ययन पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में हिंदी तथा अनूदित उपन्यासों का कथानक, संवेदना तथा शैली की दृष्टि से तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है।

पंचम अध्याय में अनूदित उपन्यासों के विशेष संदर्भ में हिंदी उपन्यासों की निजता एवं विशेषता को दर्शाया गया है।

शोध-प्रबंध के षष्टम् अध्याय में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में समस्या की दृष्टि से अखिल भारतीय एवं राष्ट्रीय रूप को दर्शाया गया है।

शोध-प्रबंध का अंतिम अध्याय उपसंहार है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विषय के चुनाव से लेकर पूरा होने तक इस शोध-प्रबन्ध की निर्देशिका एवं हमारी गुरु श्रद्धेया प्रो० मीरा श्रीवास्तव जी द्वारा दिये गये सहयोग के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना अथवा कृतज्ञता व्यक्त करना महज़ औपचारिक-सा लग रहा है क्योंकि बिना उनके उचित निर्देशन के इस शोध-प्रबन्ध को पूरा करना मेरे लिए सम्भव ही नहीं था। हाँ! आपके स्नेहमय व्यवहार को मैं कभी भी भूला नहीं पाऊँगा एवं अपने अति व्यस्त समय में से जो अधिकांश समय उन्होंने मुझे दिया उसका मैं ह्रदय से आभारी हूँ एवं आजीवन ऋणी रहूँगा।

अपने विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक एवं अपने गुरुवर प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र जी का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका समय-समय पर सहयोग मुझे मिलता रहा है। अपने ही विभाग के विभागाध्यक्ष एवं गुरुवर प्रो० राजेन्द्र कुमार जी का भी मैं आभारी हूँ जिनका जाने-अनजाने सहयोग इस शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में कहीं न कहीं अवश्य मिलता रहा है।

मैं देश के साहित्य के क्षेत्र में दिये जाने वाले सर्वोच्च पुरस्कार संस्थान के०के०बिड़ला फाउंडेशन के निदेशक डॉ० बिशन टण्डन जी एवं भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन के डॉ० नेमिचंद जैन जी के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस शोध-प्रबन्ध के लिए सामग्री उपलब्ध करायी।

मैं अपने मित्रो राजेश सिंह, आनंद सिंह, इन्द्र बहादुर सिंह, प्रवेश कुमार सिंह, तीर्थ राज राय एवं उमेश सिंह तथा संजय ओझा के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहूंगा जो समय-समय पर सहयोग प्रदान करते रहे।

इस शोध-प्रबंध के पूरा होने पर अपने परिवार के जिन सदस्यों का सहयोग मुझे बराबर मिलता रहा उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मेरी नैतिक जिम्मेदारी बनती है। वैसे पिता श्री हरिहर प्रसाद राय जी एवं माता जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना सूर्य को दीपक दिखाने के सादृश्य हास्यास्पद ही होगा, क्योंकि कोई भी पुत्र अपने माता-पिता के प्रति हजारों आदर सूचक शब्दों से आभार व्यक्त करने के बावजूद उनके ऋणों से मुक्त नहीं हो सकता। ऐसे ही मैं माता जी एवं पिता जी का विशेष ऋणी हूँ। परिवार के अन्य सदस्यों चाचा श्री शिवनारायण राय, भईया श्री अवधबिहारी राय के साथ ही चाची जी, भाभी जी एवं आजी श्रीमती भगवता देवी जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूंगा। जिन्होने समय-समय पर मेरा सहयोग किया। चाचा जी के प्रति आभार व्यक्त करना इसलिए भी विशेष हो जाता है क्योंकि इलाहाबाद में मेरे लम्बे प्रवास के दौरान उन्होंने अर्थ की कमी ही न होने दी बल्कि गृहस्थ कार्य में व्यस्त रहते हुए भी वे समय-समय पर मेरा मनोबल बढ़ाते रहे।

अंत में मैं अपनी जीवन-संगिनी सविता राय को विशेष रूप से आभार व्यक्त करना चाहूंगा। जिन्होंने मेरे शोध कार्य के दौरान मुझे मेरे कई जिम्मेदारियों से मुक्त रखा।

अध्ययन सम्बंधी सामग्री उपलब्ध कराने के लिए मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के

केन्द्रीय पुस्तकालय, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद संग्रहालय इलाहाबाद, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के केन्द्रीय पुस्तकालय तथा उनमें कार्यरत कर्मचारियों के प्रति आभारी हूं जिन्होंने इस शोध प्रबंध के लिए सामग्री उपलब्ध करायी।

मैं अपने मित्र कम्प्यूटर टाइप राइटर ब्रह्मानन्द मिश्र और राजेश शर्मा के प्रति विशेष आभारी हूँ जिनके सहयोग से प्रस्तुत शोध-प्रबंध की पाण्डुलिपि तैयार करने में विशेष सहायता मिली।

अन्ततः मैं उन विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके विचारों एवं पुस्तकों से मैंने लाभ उठाया है। हर मानव अनुभव के आधार पर कहीं न कहीं अपूर्ण ही साबित होता है, मेरे इस शोध-प्रबंध में भी अनेक त्रुटियाँ रह गयी होंगी जिनके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ।

विद्वज्जनों का कृपाकांक्षी

घनश्याम राय

घनश्याम राय

प्रथम अध्याय

साहित्य की अन्य विधाओं से उपन्यास की तुलना।

उपन्यास पाश्चात्य साहित्य की देन है। प्राचीन भारतीय कथा साहित्य के साथ वर्तमान उपन्यास का विषय-वस्तु भाषा-शैली आदि किसी भी दृष्टि से मेल नहीं हैं। उपन्यास में आधुनिक जीवन के कार्य-व्यापार, जटिल परिस्थिति विषमता, मानव की नैतिक मान्यता, अंतर्मन की विभिन्न स्थितियां कथा के सहारे जितने स्पष्ट और पूर्णरूप से उद्घाटित होती है, उतना साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं। मानव वाह्य रूप से ही नहीं अंतर्मन से जहाँ तक प्रवेश करता है। वहां तक की विषय-वस्तु का ग्रहण उपन्यास करता है।

उपन्यास के प्रति दृष्टिकोण, युगीन भावधारा के अनुसार बदलता जा रहा है। सामंती वातावरण में उपन्यास मानसिक उत्तेजन का परितोष माना जाता था। मध्यवर्ग के जन्म से पारस्परिक मान्यता तथा सांस्कृतिक जीवन विन्यास ही मध्यवर्गीय जीवनादर्श के मूलाधार माने गये। धीरे-धीरे उपन्यास उपेक्षा की परिधि से मुक्त होने लगा। पहले उपन्यासकारों को निम्न श्रेणी का कलाकार माना जाता था। लेकिन इस विधा में भी साहित्यिक प्रतिभा का आगमन हुआ, जीवन संबंधी गंभीर तात्विक विषयों की चर्चा हुई और परिणामस्वरूप उपन्यास के अध्ययन के प्रति भी समाज की दृष्टि में परिवर्तन आने लगा, उसके पाठकों की संख्या बढ़ने लगी और साहित्यिक मर्यादा प्राप्त कर उपन्यास वास्तविक जीवन के साथ कदम मिलाकर चलने लगा। आज उपन्यास का अध्येयता सामान्य स्तर के मनोरंजन का खोजी ही नहीं उत्कृष्ट कोटि का साहित्य मर्मज्ञ भी है। दूसरी ओर आज संसार की सभी जातियाँ सामूहिक जीवन में गणतंत्र की ओर उन्मुख है। बहुत से देश गणतांत्रिक शासन-प्रणाली अपना चुके हैं। इस प्रकार सामान्य मानसिक भावना गणतांत्रिक होने के कारण उपन्यास का दायित्व और भी बढ़ गया है। साहित्य जनमानस के स्तर पर आ गया है। कथा साहित्य एक विधा होने के कारण उपन्यास

को और भी गण-देवता के साथ चलना पड़ता है। गणतंत्र समष्टि मानस के साथ-साथ व्यक्ति मानस की स्वतंत्रता का पोषण करता है। इसलिए व्यक्ति मानस की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति साहित्य की काम्य वस्तु बन गयी, उदाहरण के तौर पर देखा जाय तो व्यक्ति जीवन के साथ सामूहिक जीवन का कभी संघात होते दिखाई पड़ता है और कभी सहचारी भाव। गणतंत्र का दायित्व है, इन दोनों के बीच योगसूत्र की स्थापना करना और दोनों के अस्तित्व की रक्षा करते हुए व्यक्ति जीवन का पूर्ण विकास कर उसे समाज के विकास में सहायक बनाना। लोकतांत्रिक जीवन में उपन्यास का उद्देश्य होगा, व्यक्ति और समाज के इस संबंध को सजीव बनाते हुए भविष्य की ओर उन्मुख कर देना।

चाहे व्यक्ति जीवन हो या समष्टि जीवन आज वह पहले की तरह सीधा सादा नहीं रह गया है। बल्कि जटिलता ने उसे चारों तरफ से जकड़ रखा है। यह जटिलता आधुनिक सभ्यता की देन है। व्यक्ति तथा समाज की प्रगति के साथ-साथ जटिलता दिन-व-दिन बढ़ती जा रही है। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह उपन्यास में भी पाठक अपने को चित्रित होता हुआ पाने की प्रबल इच्छा रखता है।

उपन्यास के जरिये पाठक आत्मोपलब्धि का प्रयास करता है। यह आत्योपलब्धि देशकाल अथवा व्यक्ति तथा समाज के अनुसार बदलती रहती है। उपन्यास को इस गतिशील जरूरत की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहना पड़ता है। आत्मतत्व की खोज के साथ समष्टि जीवन में सत्य का अन्वेषण तथा उसकी उपलब्धि उपन्यास की विषय-वस्तु बन जाती है। ऐसे विषय का पूर्ण चित्रण केवल उपन्यास की विधि में ही संभव है। इस उपयुक्तता ने ही उपन्यास में क्षिप्र परिवर्तन ला दिया है और इसीलिए साहित्य की यह विधा सर्वाधिक व्यवहृत होती है। सच्चाई और ईमानदारी के साथ मानवीय कार्यकलापों के अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता उपन्यास में रहनी चाहिए, वही उपन्यास की जान है।

म .काव्य का उपन्यास में स्थानान्तरण

किसी उपन्यास को जब हम 'महाकाव्य' कहते हैं तो हमारी दृष्टि उसके रूप पक्ष (Form) पर उतनी नहीं होती जितनी उसमें चित्रित विषय की व्यापकता और गहराई पर होती है। वस्तुतः रूप की दृष्टि से आकार की विशालता को छोड़कर उपन्यास और महाकाव्य में कोई दूसरी समानता नहीं होती। दोनों में सबसे बड़ा और प्रायः अमिट अन्तर यह है कि महाकाव्य पद्य रचना है जबकि उपन्यास गद्य में ही लिखा जाता है। महाकाव्य का रूप एक प्रकार से निश्चित, स्थिर और रूढ़ हो चुका है। जबकि उपन्यास का कोई बना बनाया रूप नहीं है। वह निरन्तर प्रयोग की प्रक्रिया से गुजर रहा है। महाकाव्य प्रायः एक मृत विधा है जबकि उपन्यास जीवित और विकासशील गद्य रूप है।[1]

पर महाकाव्य और उपन्यास के रूप या फार्म (Form) में भारी अन्तर होते हुए भी दोनों में कोई मौलिक विरोध नहीं है। इनकी मौलिक एकता इस बात में है कि दोनों ही किसी समाज विशेष का विस्तार और गहराई के साथ चित्रण करते हैं। दोनों ही युग चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। महाकाव्य मानव जीवन और मानवीय संस्कृति को उसकी समस्त उदात्तता सौन्दर्य और समृद्धि के साथ शब्दबद्ध करता था, जबकि उपन्यास समाज व्यवस्था के अंतर्गत जीवन और संस्कृति को उसकी समस्त जटिलताओं अन्तर्विरोधों और उलझी हुई समस्याओं के साथ प्रस्तुत करता हैं।

उपन्यास की श्रेष्ठता महाकाव्य की तुलना में

पूर्व की परिस्थितियां महाकाव्य के लिए अनुकूल थी। इसलिए साहित्यकारों ने महाकाव्य रचे। आज की परिस्थितियां पद्य के लिए अनुकूल नहीं, खासकर महाकाव्य के लिए अनुकूल नहीं है। वर्तमान जीवन की आवश्यक समस्याओं की पूर्ति के लिए जन सामान्य का पूरा दिन मेहनत और संघर्ष

---

1. (डॉ० गोपाल राय – गोदान : नया परिप्रेक्ष्य – पृ० सं० -15)

करने में गुजरता है। कला अथवा काव्य से आनंद प्राप्त करने के लिए मनुष्य के पास न अधिक समय है और न ही पाठक पढ़ने के लिए तैयार है। वर्तमान युग एक ओर द्वंद्व प्रधान तो दूसरी ओर विज्ञान प्रधान हैं। विज्ञान युग के कारण आज सर्वत्र बुद्धिवाद का बोलबाला है। बुद्धिवाद ने साहित्य के क्षेत्र में गद्य को अपनाया और पद्य को अस्वाभाविक बनाया। इसीलिए आज सर्वत्र उपन्यासो की बाढ़ सी दिखाई देती हैं। श्री नवल किशोर जी ने ठीक ही लिखा है कि – "उपन्यास आधुनिक युग की जटिल वास्तविकता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है।"[1]

उपन्यास जीवन की समग्रता को सरल रूप में प्रस्तुत करता है। उसमें आधुनिक संसार का आलोचनात्मक चित्रण होता है। वर्तमान जीवन की विशिष्टता का चित्रण उपन्यास में ही सम्भव है।

पाठक अतीत में महाकाव्य पढ़ना तथा आज वह उपन्यास पढ़ना पसन्द करता है। क्योंकि आधुनिक उपन्यास मनोरंजन के साथ-साथ पथ-प्रदर्शन का कार्य भी करता है।

डॉ० कृष्णदेव शर्मा ने कहा है कि – "अब महाकाव्यों का युग समाप्त हो चुका है। ये मात्र एक साहित्य की विधा बनकर रह गया है। महाकाव्य का ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कोई मूल्य हो परन्तु वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में इनकी कोई उपादेयता नहीं है। वस्तुतः महाकाव्यों की जगह अब उपन्यासों ने ले ली है। जीवन और उपन्यास की अभिन्नता स्पष्ट करते हुए डॉ० कुँवर पाल सिंह ने लिखा है कि – "उपन्यास नये युग की ऐसी आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति करने में युग की अन्य प्रचलित साहित्यिक विधाएं अस्मर्थ हैं। उपन्यास का संबंध वास्तविक जीवन से है। उपन्यास महान घटनाओं की खोज नहीं करता। उसका रचना क्षेत्र तो दैनिक की साधारण घटनाएं हैं। सम-सामयिक उपन्यास वास्तविक जीवन से इतना अधिक घुलमिल गया है कि वास्तविक जीवन और उपन्यास में भेद

---

1. (डॉ० शंकर बसंत मुद्गल – हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यास, पृ० सं०- 32)

करना कठिन हो गया है। जीवन की भाँति उपन्यास को भी किसी परिभाषा में बाँधना कठिन काम है।''

उपन्यास के एक छोर पर प्रगीत की भावुकता है और दूसरे छोर पर महाकाव्य की विराटता है। इस तथ्य पर बल देते हुए डॉ० चन्द्रकांत बांदिवेडेकर ने लिखा है कि – ''वृहत् जीवन के गरिमामय घटनाचक्रों के माध्यम से अपने नायक को गुजारकर जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक पाश्चात्य स्तरों को अभिव्यक्त करते हुए महाकाव्य की भॉति जातीय तथा सांस्कृतिक मानदण्डो को प्रस्तुत करने का श्रेय उपन्यास ने पा लिया''।

एक उत्तम उपन्यास उपन्यासकार के आत्म अन्वेषण का प्रकाशन है। उपन्यास के विषय के लिए कोई सीमा नहीं है। नायक के लिए न तो कोई विशिष्ट वर्ग का होना अनिवार्य और न ही अतीत और वर्तमान का कोई बन्धन है। ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी विषयों पर उपन्यास लिखा जा सकता है। शर्त यह है कि उसमें मानवीय समस्या का चित्रण हो।

वर्तमान उपन्यास पाठक की आकांक्षा की पूर्ति करता है। अतः महाकाव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया। वर्तमान के उलझन पूर्व जीवन को वर्तमान उपन्यास प्रतिबिम्बित कर रहा है। साधारण मनुष्य की साधारण समस्याओं को असाधारण मात्रा में उपन्यास अभिव्यक्ति दे रहा है तथा साधारण मनुष्य के सुख-दुःख एवं हर्ष-क्रोध को वाणी दे रहा है। आज का उपन्यास जन-जीवन की वाणी बन गया है। उपन्यास से विराट जन समूह मुखरित हो रहा है। आज का उपन्यास मानव समाज का श्लोक बन गया है। जो मनुष्य के शोक को प्रकट कर रहा है। तभी तो आलोचक घोषणा कर रहे हैं। कि उपन्यास जन जीवन का महाकाव्य है।

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। वर्तमान जीवन में भावुकता की अपेक्षा चिन्तनशीलता बढ़ती जा रही है। महाकाव्य में अधिक मात्रा में भावनाओं का आह्वान किया जाता है। महाकवि अपना चिन्तन प्रत्यक्ष रूप में प्रकट नहीं कर सकते। शब्द, अलंकार और छंद के आवरण में छिपे हुए विचारों तक

पहुॅचना एक दिमागी पहेली बन बैठती है। नतीजा यह होता है कि महाकाव्य का बुद्धिपक्ष बोझिल लगता है। उपन्यास इस कठिनता का त्याग करके विचारों को सरलता से प्रकट करता है। उपन्यास का विचार पक्ष जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल होता है। क्योंकि ये विचार जन जीवन के विचार होते हैं। जन-जीवन की भावनाओं एवं विचारों को उपन्यास में विराट रूप में वाणी मिलती है।

परिवर्तन जीवन का शाश्वत सिद्धांत है। जीवन बदलता रहता है। जीवन संबंधी हमारी धारणाएं, भावनाएं, मान्यताएं, आदर्श एवं अभिरूचियां बदलती हैं।

उपन्यास के 'पात्र' और पाठक एक हो जाते हैं। इतनी तद्रूपता साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं है। उपन्यास ने महाकाव्य की बारीकियों को दूर कर दिया है, न तो 'छन्द' और न ही 'पद्य' की इसमें गुंजाइश है। उपन्यास में शब्द और अर्थ चमत्कार की अधिकता भी नहीं है। सीधी सादी भाषा में उपन्यासकार अपना मंतव्य कथा के द्वारा प्रकट करता है। साधारण पाठक इसे सरलता से अपनाता है। अतः साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास लोकप्रिय विधा सिद्ध होती है।

दो दशकों के संदर्भ में भारतीय उपन्यासों की संवेदना

संवेदना को लेकर ही आजकल साहित्य चर्चा शुरू होती है। भिन्न-भिन्न स्तर पर इसकी अलग-अलग प्रतीति भी व्यक्त होती रही है, उपन्यास के संदर्भ में डॉ० सुरेश सिन्हा के अनुसार – संवेदना से अभिप्राय है – ''वह अनुभूति प्रवणता, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभावों को ग्रहण करने की क्षमता से पूरित होती है।''[1]

एक दूसरे अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि – ''कोई साहित्य किन भावनाओं की प्रतीति

---

1. (डॉ० सुरेश सिन्हा – हिन्दीं उपन्यास (पृ०सं०-57)- द्वि०सं० - 1972, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद)

हमें करा सकने में समर्थ होता है। भावनाओं के ये स्तर विविध होते हैं। वह आधुनिक बोध भी हो सकता है या मानव अस्तित्व की बुनियादी विवशताएं भी। वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना भी हो सकता है या यथार्थ के अन्य तत्वों की अन्विति भी। संवेदना का धरातल चाहे जो हो, अभिव्यक्ति उसे साहित्य के माध्यम से ही मिलती है।''[1]

साहित्य की संवेदना नयी अनुभूति, नयी भाषिक अर्थवत्ता, अनुभवों का नया संयोजन तथा मानव-संबंधों के परिवर्तन की सूक्ष्म परख आदि से स्पष्ट होती है। भाषा, भाव और प्रेरणा तीनो ही प्रत्येक काल मे साहित्य की संवेदना को नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

आज का उपन्यास मुख्यतया व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर बल देता है। कोई भी व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हुए भी सामाजिक दायित्व-बोध की अवहेलना नहीं कर पाता। जब आज समाज और व्यक्ति के संबंध की बात की जाती है तो इसका मतलब यह नहीं है कि यह सदस्य और समुदाय का संबंध है। बल्कि यह अंश और अंशी का ही संबंध है। जो लोग यह समझते हैं कि व्यक्ति समाज की या समाज व्यक्ति की विवश स्वीकृति है। वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि समाज व्यक्ति निरपेक्ष नहीं हो सकता, और न व्यक्ति ही समाज निरपेक्ष होता है। वे दोनों दायित्व और स्वातंत्र्य से संबंधित मानव-मूल्यों को लेकर ही विकसित होते हैं।

आज का उपन्यासकार सामाजिक दायित्व को आत्मोपलब्धि के रूप में इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि हैं। बिना इसके वह उसे अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया का अंग नहीं बना पायेगा। यही कारण है कि आज का उपन्यासकार अपने युग-जीवन को आत्मगत सत्य के रूप में ही स्पष्ट करने की चेष्टा करता है। वह अपनी आंतरिक संवेदना को अपने

---

1. (डॉ० सुरेश सिन्हा – हिन्दीं उपन्यास (पृ०सं०- 57) द्वि०सं० - 1972, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद)

वैयक्तिक स्वातंत्र्य की शर्त स्वीकार कर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करता है। वह जीवन के अंदर से जीवन का साक्षात्कार करता है। इस पूरे विवेचन से हम स्पष्टतः निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि – वैयक्तिक स्वतंत्रता की मांग, सामाजिकता का विरोध करना नहीं बल्कि उसका विकास करना भी है। जो हमारे दायित्व-बोध से सम्बद्ध है।

आज के उपन्यास की मूल संवेदना के संबंध मे यथार्थ पर विचार करना भी आवश्यक है। जीवन और उसके सत्य सबसे बड़े यथार्थ हैं। हमारा भावुक होना, अनुभूतियों के स्तर पर हमारा संवेदनशील होना यथार्थ है। हमारा दुःखी या सुखी होना, यहां तक कि मनुष्य की विशिष्टताएं तथा उसका अधूरापन भी यथार्थ है। जीवन के प्रति आस्थावान होना सबसे बड़ा यथार्थ है। उपन्यासों में जब तक यथार्थ की सापेक्षता नहीं होगी तब तक वैयक्तिक सामाजिक और सामूहिक चेतना के आधार पर मनुष्यो द्वारा ग्रहण की गयी अनुभूतियों का कोई महत्व नहीं होगा।

प्रश्न उठता है कि यथार्थ के वे नये धरातल कौन से हैं। जिन पर आधुनिक उपन्यास की मूल संवेदना निर्भर करती है? आज का उपन्यास मनुष्य और उसके संसार के यथार्थ को दो भिन्न-भिन्न संदर्भों में नहीं स्वीकारता और मानव मुक्ति को इसी संसार से संबंधित करता है। इस प्रकार यथार्थ को आज का उपन्यास वस्तु सत्य के रूप में देखने का प्रयत्न करता है। आज का उपन्यास प्रेमचन्द की तरह यह कहकर सन्तोष नहीं कर लेता कि चूंकि यथार्थ भयंकर होता है इसलिए हमें आदर्श की ओर झुकना पड़ता है। वास्तव में यथार्थ के इसी नये धरातल पर आज के उपन्यासों में जीवन अपनी पूर्ण समग्रता से विकसित होकर व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करती है। उसे करने के बजाय वह उसे नये आयाम देता है। जिससे नये मूल्य विकसित होते हैं और यथार्थ अपने पूर्ण रूप में उभर पाता है।

अतः आज के भारतीय उपन्यासों की संवेदना में विराग, कुण्ठा तथा निस्संगता जीवित तत्व है। उन्हें नकारने का मतलब मूल सत्य की उपेक्षा करना है। जो समाज इन आधारभूत प्रश्नों को न तो

अनुभव के धरातल पर, न चिन्तन के धरातल पर स्वीकार करता है। वह जीवित नहीं है। नया उपन्यास जीवन्त तत्वों को लेकर चलता है। इसी प्रयास मे आज का संवेदनशील उपन्यासकार अपनी मेधा का उपयोग कर रहा है। आज का मनुष्य संसार में व्यर्थता के बोध से सर्वाधिक पीड़ित है, 'अल्बेयर कामू' ने भी कुछ इसी प्रकार की व्यर्थता (एब्सडिर्टी) का संकेत 'द आउट साइडर' और 'द फाल' में किया था। जिनका प्रभाव आज के नये भारतीय उपन्यासों की संवेदना पर जबरदस्त पड़ा है। इस प्रकार सृजनशील एकाकीपन नये उपन्यास की मूल संवेदना है।

रचनाकार के सत्य को न तो झुठलाया जा सकता है, न विकृत ही; वह केवल अनुभव किया जा सकता है, परिभाषित नहीं। भाषा जहाँ आधुनिक संवेदना को सम्प्रेषित करती है। वहीं रचना की अंतर्हित प्रमाणिकता उसे प्रभावशाली बनाती हैं। आज के लेखक का संसार विचारों का संसार है। जिसे वह यथार्थ की भाषा में व्यक्त करता है। सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक यथार्थ, नित्य प्रति के कार्य-व्यवपार को वह अपनी सर्जनात्मक मेधा से इतना परिवर्तित कर देता है कि वे नया अर्थ और बोध ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन जब भाषा सहज सुस्पष्ट एवं अर्थ गम्भीर नहीं होती तो इस संवेदना का रूप खण्डित भी होता है। ऐसी दशा में अर्थ बदल जाते हैं, या धुंधले पड़ जाते हैं। अंत में एक बात कहना आवश्यक है कि नयी संवेदना का अर्थ परम्परा को नकारना नहीं है। परम्परा केवल अतीत का शव मात्र नहीं है। वह जीवित होती है समकालीन से उसका जीवन्त संबंध होता है। इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता और इसी सन्तुलन से नयी संवेदना का जन्म होता है।

भारतीय उपन्यासों में आधुनिकता

भारतीय उपन्यासों में आधुनिक उपन्यास लेखन का विकास उन्नीसवीं शती में गद्य के विकास के साथ हुआ। हमारे यहाँ मध्यकाल में गद्य का अभाव सा है। अंग्रेजी शिक्षा के साथ भारतीय भाषाओं में गद्य लेखन को भी प्रोत्साहन दिया गया। अतः यह स्वाभाविक ही है कि हमारे आरम्भिक उपन्यासों

में साहित्यिक गद्य का रूप क्रमशः निखरता हुआ दिखाई देता है।[1]

आधुनिक अंग्रेजी की 'मौर्डनिटी' का समानधर्मी हिंदी शब्द है।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार – आधुनिकता का संबंध वर्तमान से है, चूँकि वर्तमान की धारणा समय-सापेक्ष है, अतः आधुनिकता का यह रूप प्रत्येक युग में बदलता रहता है।

इस प्रकार आधुनिकता वर्तमान से सम्बद्ध वह बोध है जो युग के जीवन-बोध से अनिवार्यतः संबद्ध है। वर्तमान के प्रति सजगता को आधुनिकता की अनिवार्य शर्त माना जा सकता है।

रमेश कुंतल के अनुसार – एक समग्र आधुनिकता तो सामाजिक व्यवस्था का दर्पण, संस्कृति का मूल्य-चक्र, विभिन्न समूहों की चिन्तन पद्धति, तथा विभिन्न मनुष्यों की वृत्तियों का अमूर्त पैटर्न है।[2]

राजेन्द्र यादव के अनुसार – "आधुनिकता एक ऐसी दृष्टि है जो धीरे-धीरे आपकी उन पुराने मूल्य धाराओं से मुक्त होने की दिशा में प्रेरित करती है, जो प्रश्न आपके भीतर उठते हैं, उससे ही आप आधुनिकता का एक तरह से अनुमान लगा सकते हैं। आधुनिकता को समझ सकते हैं।"[3]

अर्थात् पुराने मूल्यों के क्षरण का अभास होते ही हम उनसे मुक्त होना चाहते हैं। यह प्रक्रिया सदैव चलती रही है। वैज्ञानिक युग में प्रवेश के साथ यह अत्यंत उत्कीर्ण और बलवती हो गई है। फिर भी आधुनिकता की हमारी परिकल्पना मूलतः पश्चिम से आयातित है। जिसके निश्चित पहलू है। भारतीय साहित्य में आधुनिक युग सबसे अधिक विवेच्य युग रहा क्योंकि इसके अंतर्गत जीवन से

---

1. (भोलभाई पटेल – भारतीय उपन्यास और ग्राम केन्द्री उपन्यास। प्रस्ताविक से पृ० सं०-viii रंगद्वार प्रकाशन अहमदाबाद गुजरात)
2. (डॉ० मेघ – आधुनिकता और आधुनिकीकरण पृ०सं०-36।)
3. (डॉ० साधना शाह – नयी कहानी में आधुनिकता बोध पृ०सं०-127)

संबंधित अनेक मत, वाद एवं विचारधाराओं का उदय एवं प्रचलन हुआ। वैज्ञानिक सभ्यता के कारण आधुनिकीकरण मानव जीवन में अहम बन गया है। जीवन मूल्यों में आधुनिकता के पुट आने से महानगर की जटिलता तथा परिवेश के तनाव भरी स्थिति का प्रभाव आज के मानव पर पड़ा है। उसी स्थिति को भोगते हुए मनुष्य जीना चाहता है।

व्यक्ति स्वतंत्रता की भावना, परिवेश के प्रति सतर्कता, स्थापित का विरोध, विज्ञान एक विकल्प एवं उसके परिणाम आदि आधुनिकता के अनिवार्य लक्षण है। जीवन के सरलीकरण की चाह में व्यक्ति ने शाश्वत जीवन-मूल्यों को बदलने की चेष्टा की है। इसका समुचित परिणाम भारतीय उपन्यास पर अनिवार्य रूप से पड़ा। फलस्वरूप बीसवीं शदी का भारतीय उपन्यास आधुनिकता की मानसिकता से भरपूर है।

बीसवीं शताब्दी कई कारणों से महत्वपूर्ण है। विचार और कर्म के स्तर पर समूची दुनिया को नयी राह दिखाने वाली यही शताब्दी है। दुनिया को एक होने का आदर्श और शोषण मुक्त समाज की समाप्ति को प्रत्यक्ष करने वाली, स्वाधीनता का सूर्य दिखाने वाली, स्त्रियों को स्वाधीनता का रास्ता बताने वाली, दलितों को आगे बढ़कर समानता की ओर ले जाने वाली यही शताब्दी है। बीसवीं शताब्दी ने यथार्थवाद, समाजवाद, मानववाद, अस्तित्ववाद और उत्तर आधुनिकता जैसे विचारों को भारतीय उपन्यासों में प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया गया है। यही शताब्दी है जिसने एक ओर मानव की श्रेष्ठता स्थापित की तो दूसरी ओर परस्पर भेद के चुनाव में धर्म को चुनकर देश के दो हिस्से किये। बीसवीं शताब्दी महानायकों के आदर्श से उतरकर त्रासद जीवन जीने वाले आम लोगों तक साहित्य को ले गई। इसी शताब्दी ने ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित किये जो आने वाली, इक्कीसवीं शताब्दी के लिए न केवल महत्वपूर्ण है बल्कि समस्या उत्पन्न करने वाली भी है।

इक्कीसवीं शताब्दी में दो समस्याएं महत्वपूर्ण होगी। माना यह जा रहा है कि साहित्य और

राजनीति दोनों में दलित और स्त्रियां केन्द्र में होंगे। दोनों की समस्याओ से बचकर कोई भी क्षेत्र प्रभावशाली नहीं हो सकेगा। ये दोनों समस्याये बीसवीं शताब्दी ने उभारी है और बताया है कि किस प्रकार हजारों साल से शोषण के शिकार दलित और स्त्री अब आगे उस प्रकार का नारकीय जीवन नहीं जियेंगे जिस प्रकार अब तक जीते चले आ रहे हैं। राजनीति ने तो अपनी कलावाजियों में कोई विशेष कार्य नहीं किया लेकिन साहित्य में इस ओर बहुत काम हुआ है। बीसवीं शताब्दी में मराठी उपन्यासों की तरह दलित-केन्द्रित और स्त्री-केन्द्रित उपन्यास अन्य भारतीय भाषाओं में भी रचे गये। जिसमें असमी उपन्यास 'मत्स्यगन्धा', मराठी उपन्यास 'उठाईगीर' में उपन्यासकार ने क्रमशः असम प्रान्त व महाराष्ट्र प्रांत में बसी जनजातियों की गरीबी, सामाजिक विसंगतियां, छूआ-छूत का भेदभाव, संयुक्त परिवार का टूटना, सामाजिक न्याय और शोषण के विरुद्ध जनजातियों का संघर्ष, उनके पारस्परिक सांस्कृतिक जीवन, उनकी व्यथा-कथा राग-विराग एवं जनजातीय समाज में अनमेल विवाह का यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत किया है। मलयालम उपन्यास 'कालम्' में उपन्यास ने नायक 'सेतु' द्वारा कई नारियों जैसे सुमित्रा, तंकमणी आदि सभी से प्रेम कराके एक स्वार्थनिष्ठ प्रेम तथा नारी को भोग की वस्तु समझने की नियति का वर्णन किया है। शैलेश मटियानी के उपन्यास 'गोपुली गफूरन' तथा बावन नदियों का संगम, मृदुला गर्ग के उपन्यास कठगुलाब, गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'तुम्हारी रोशनी' में भी स्त्री की अस्मिता से जुड़े सवाल उठाये गये हैं। गुजराती उपन्यास 'अमृता' में नारी की स्वतंत्रता तो बंगला उपन्यास 'सच-झूठ' में फ्लैटों में रह रहे मेम साहबों की व्यस्त जिन्दगी तथा साहबों द्वारा मेम साहबों की गैर मौजूदगी में दाइयों के शोषण के रहस्यों का पर्दाफाश किया गया है। गिरिराज किशोर के उपन्यास तीसरी सत्ता में आधुनिक नारी के दाम्पत्य जीवन की जटिलता तो ढाई घर में नारी के भोग की नियति का वर्णन किया गया है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अग्निगर्भा' में भारतीय समाज में दहेज प्रथा के कारण मध्यवर्गीय नारी का शोषण, उस पर अत्याचार, पुरुष की स्त्री के प्रति स्वार्थी और घिनौनी इच्छायें, स्त्री द्वारा आत्महत्या आदि का उल्लेख बड़े मार्मिक ढंग से किया गया

है। आशापूर्णा देवी का बंगला उपन्यास 'न जाने कहॉ कहाँ' में 'चैताली' द्वारा नारी मुक्ति की आवाज उठायी गयी है। इस उपन्यास में दहेज प्रथा का भी चित्रण किया गया है। आशापूर्णा देवी के एक और बंगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन' की नायिका कावेरी जो आत्मविश्वास से भरीपूरी है, कावेरी तमाम सामाजिक प्रश्नों से निरन्तर जूझती रहती है और उन रूढ़ियो से भी लगातार लड़ती रहती है जो उसे जटिल सीमाओं में बाँधे रखना चाहती है। गुरुदयाल सिह का पंजाबी उपन्यास 'परसा' की नारी पात्र मुखत्यार कौर का प्रेम संबंध प्रेम की अनुभूति के बजाय सेक्स से प्रारम्भ होता है। इस उपन्यास में पात्रों द्वारा सेक्स की आरम्भिक प्रेरणा उपलब्ध करवाया जाना अद्‌भुत है। मुखत्यार कौर की शारीरिक जरूरते उसे हर परम्परा और वंचना की सीमा को तोड़ डालने का साहस देती है।

हिन्दी में भीष्म साहनी के उपन्यास 'कुन्तों' में नायिका कुन्तों के माध्यम से उपन्यासकार नारी की नियति, पुरुष प्रधान समाज में आर्थिक परतंत्रता के कारण अशिक्षित और अज्ञानी नारियों का परनिर्भरता तथा परस्त्रीगामिता का विवश होना स्पष्टतः दिखाई देता है। भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास 'बसन्ती' में दलितों के अनधिकृत रूप से बनी झुग्गी-झोपडियों तथा इस व्यवस्था से जुड़े पारिवारिक सम्बन्धों, आर्थिक समस्याओं, नैतिक-मूल्य संकटों का विश्वसनीय एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास की नायिका 'बसन्ती' इस व्यवस्था के अनेक स्तरीय शोषण का शिकार होती है नारी के शोषण में खून के रिश्ते की कितने बेमानी हो जाते हैं, पर बसन्ती भी शोषण के शिकार होने के बावजूद हार नहीं मानती है। वह पूरी व्यवस्था से विद्रोह करती है तथा उससे लड़ती है। उसकी जिजीविषा और जीवन में आस्था अजेय है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' में स्त्री के संघर्ष और विद्रोह की कथा गहरे पीड़ा-बोध एवं संजीदगी के साथ प्रस्तुत की गयी है, तो मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास 'हमजाद' में वैश्वीकरण चरम सीमा पर है। प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र ने इस उपन्यास को 'वर्दी वाला गुण्डा' कहकर सम्बोधित किये है। (व्याख्यान-पस्तकालय इ०वि०वि० इ० - सित० 2002)

भारतीय उपन्यासों में दो परम्परायें साथ-साथ चलती रही एक सामाजिक यथार्थ की और दूसरी आदर्शवादी व्यक्तिवाद की। व्यक्तिवादी धारा का विकास, जाहिर है, कलावाद से होकर अध्यात्म में ही होना था, हुआ। निर्मल वर्मा का उपन्यास 'अंतिम अरण्य' इसका जीता जागता उदाहरण है। यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि जिस बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में स्त्री, दलित, मनुष्य की गरिमा और संघर्ष को लेकर अनेक महत्वपूर्ण भारतीय उपन्यास आये उसी समय में 'अंतिम अरण्य' जैसा उपन्यास आया जिसमें एकाकी जीवन की परिणति आध्यात्मिक व्याकुलता के रूप में दिखाई देती है, जो जीवन की समस्याओं के कही अधिक सबल और प्रमुख है जो जाने-अनजाने सारी उथल-पुथल के बावजूद कहीं हमारे अंदर बीतता रहता है। बीसवीं शताब्दी का अंतिम दो दशकों में अच्छे उपन्यास रचे गये। प्रश्न उठता है कि क्या यह सच नहीं है कि संघर्ष काल में अच्छी रचनाएं और अच्छे विचार आते हैं? मनुष्यता पर जब-जब संकट आया है तब-तब संघर्ष और तेज हुए है और जीवन को जब-जब संकुचित करने के षड्यंत्र हुए तब-तब उसे व्यापक बनाने के लिए प्रयास किये गये है। यही कारण है कि इस दशक में अचानक उदारीकरण का आना सामाजिक संस्थाओं का निजीकरण, सामूहिक सम्पत्ति और सामूहिक सम्पत्ति के विचार की हत्या, धर्म, भाषा और नस्ल के नाम पर स्वयं को श्रेष्ठ मानने की आदिम प्रवृत्ति का उभार, नव धनाढ्यों की लूट के विरोध में कथाकारों ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया।

कन्नड़ उपन्यास 'मृत्युंजय' में उपन्यासकार ने सरकारी तंत्रों द्वारा किसानों, जुलाहों, व्यवसायियों बढ़ई, तथा भवन का निर्माण करने वालों और छोटे-छोटे व्यापारियों के शोषण तथा उनकी व्यथा-कथा का चित्रण किया है। इस शोषण के खिलाफ उपन्यास का पात्र 'मेनेप्टा' (शोसकों के समूह का नेता) कर अधिकारी के पास प्रार्थना पत्र देने के लिए जाता है तो सरकारी अधिकारी, तिहूती के इसारे पर बाहुबली 'वकीला' द्वारा उस पर चाबुक बरसा कर घायल कर दिया जाता है तथा जेल के सलाखों में डाल दिया जाता है, उसे तब तक नहीं छोड़ा जाता जब तक कि कर अधिकारियों द्वारा निरीह

जनता से पूरा कर वसूल नहीं लिया जाता। सरकार तथा उससे जुड़े सरकारी तंत्र मिलकर बड़े-बड़े जमींदारों को होटलों तथा गेस्ट हाउसों मे सूअर का मांस, नरम-नरम चपातियाँ और पिस्ता का बना हुआ मीठा व्यंजन एवं मदिरा का पान कराते हैं तथा इन जमीदारों का इस्तेमाल निरीह जनता के शोषण के लिए किसी न किसी रूप में करते हैं, जो आज भी हमारे समाज के लिए पूरी तरह प्रासंगिक है। आज का राजनेता, अधिकारी, जमींदार तथा अन्य सरकारी तंत्र भारतीय समाज के निरीह जनता का शोषण किसी न किसी रूप में करते हैं। हिंदी उपन्यासकार अलका सरावगी का 'कलिकथा : वाया बाइपास' और रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानवे'। दोनों उपन्यासों में अपने समय के इतिहास को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि आगे आने वाले समय के लिए यह मशाल बने। 'कलिकथाः वाया बाइपास' के किशोर बाबू अपने इतिहास के उस पृष्ठ को ढूंढ़ते हैं जो मारवाड़ियों की कंजूसी, धन कमाने की अंधी लालसा और देश विरोधी छवि के रूप में केवल बंगाल ही नहीं बल्कि पूरे देश में विद्यमान हैं। अलका सरावगी ने न केवल मारवाड़ियों के निजी जीवन का चित्र खींचा है बल्कि मारवाड़ियों के माध्यम से देश की आजादी और उसके बाद के पतन का भी सघन चित्र प्रस्तुत किया है। इन चित्रों में शांतनु जैसे सुभाष बाबू के अनुयायी भी हैं जो स्वाधीनता के आद एन०जी०ओ० और अन्य गतिविधियों में लिप्त होकर धन कमा रहे हैं। वे अपने आदर्श नेता सुभाष बाबू को बिल्कुल भुला चुके हैं। बंगाली नव जागरण, बंगाल का विभाजन और देश की आजादी जैसे महत्वपूर्ण विषयों को 'अलका सरावगी' ने इस उपन्यास के माध्यम से उठाया है। आजादी के बाद हम जिन समस्याओं से घिरते गये उनका निदान ढूंढ़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया, इसलिए हम बाइपास तलाशते रहे और देश की समस्याओं को अनदेखा करते रहे। आजादी की स्वर्ण जयंती पर इस प्रकार की समस्याओं को उभारना निश्चित ही भारतीय उपन्यास साहित्य की आधुनिक निधि है। इसी प्रकार का एक उपन्यास रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानवे' है जो आजादी के बाद के पतन से रू-ब-रू कराता है। उपन्यास का मुख्य पात्र 'रामदयाल' के पितामह 1858 में अंग्रेजों द्वारा मारे जाते हैं तथा छोटा भाई

'हरि' क्रांतिकारियों के साथ विन्ध्याचल की पहाड़ियों में बम विस्फोट का अभ्यास करते हुए मारा जाता है। लेकिन रामदयाल का छोटा बेटा लोभ लाभ के लिए राजनीति का इस्तेमाल करता है। रामदयाल को, पितामह और भाई का बलिदान आकर्षित करता है। वह चाहता है कि जिस काम को पितामह और भाई नहीं कर पाये उसे वह और उसके बेटे करे। इसीलिए अपने छोटे बेटे का नाम हरि रखता है। लेकिन उनकी चिंता इस वाक्य से प्रगट होती है – 'इस सदी में हरि दो बार पैदा हुआ। पहली बार उसने आजादी के लिए घर छोड़ा तथा दूसरी बार मारूति के लिए।' राम दयाल की चिंता यह है कि जिस परिवार ने देश की स्वाधीनता के लिए कुर्बानी देने में हिचक महसूस नहीं की, उसी परिवार का बेटा आपातकाल मे संजय गांधी के साथ गुंडागर्दी करता हुआ जेल जाता है, जमीन की दलाली और ठेकेदारी में पैसा कमाता है, और इस शताब्दी के अंतिम दशक में आये धार्मिक पुनरुत्थानवाद का सहारा लेकर पूरा भगवा होकर धन कमा रहा है। उसके लिए धन और कुर्बानी जैसे शब्द बेमानी हैं।

स्वाधीनता के बाद की पीढ़ियों में अपने परिवर्तनों को रवीन्द्र वर्मा ने जिस रूप मे उभरा है वह भारतीय साहित्य की थाती है। कन्नड़ उपन्यास 'मृत्युंजय' हमें बताता है कि किस प्रकार से सरकारी तंत्र हर किसानों से उसकी फसल का, चरवाहे से उसके चरवाई का, कारीगर से उसकी कला का, मछुआरे से उसकी मछली का, शिकारी से उसके शिकार का दो-दसवाँ हिस्सा कर के रूप में इकट्ठा करके सरकारी खजाने में ले जाने के बजाय उस धन का अस्सी प्रतिशत अनाज तथा रुपये उन सरकारी तंत्रों के घर या उन पर खर्च होता है। इसी प्रकार एक हिंदी उपन्यास निन्यानवे हमें बताता है कि जिस मूल्यहीन राजनीति के बस में आज सारा देश है उसकी परिणति करोड़पति होकर परिवार से अलग होने में है। करोड़पति बनने की बेईमान इच्छा आज नयी युवा पीढ़ी के सामने अंधकार की तरह छाने लगी है, जैसे जीवन की महान उपलब्धि या तो अमेरिका जाने में है या अपने ही देश में करोड़पति बन कर रहने में।

छठे दशक में स्त्री की स्वाधीनता को लेकर जो चिंता प्रकट की गयी वह यहां आकर और अधिक घनीभूत हो गयी है। स्त्री स्वतंत्रता का नारा पश्चिम से आया था लेकिन आज हमारे समाज का अविभाज्य अंग बन गया है। हमारे देश में स्त्री स्वतंत्रता का अर्थ क्या है? इसके लिए हिंदी उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए', चाक तथा अपना सलीबे में स्त्री अस्मिता से जुड़े सवाल उठाये गये हैं। इसी प्रकार असमीया उपन्यास पाखी घोड़ा की 'सुदर्शना' एक कुण्ठित तथा दुःखी पत्नी की छवि को दर्शाती है जो मानसिक खुशी एवं स्वतंत्रता की खोज में भटक रही है। पाखी घोड़ा का ही एक ईसाई स्त्री पात्र 'सुमति' अपनी स्वतंत्रता के लिए स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य का मार्ग चुनती है। वह नवीन को भी प्रेरित करती है कि गांधीजी द्वारा दिखाए गए रचनात्मक कार्यों को करते हुए समाज के पुनर्निर्माण के कार्य में लगा रहे।' [1]

'नारी-स्वातंत्र्य और उसके अधिकार को महत्व देते हुए इस युग की अनेक लेखिकाओं ने कई उपन्यास लिखे। इनमें नारी का यह आक्रोश मुखरित है कि वह आज भी दूसरे स्थान पर है। वह सिर्फ पुरुष की कामेच्छाओं को पूर्ण करती है और उसके लिए बच्चे जनने वाली मशीन हैं। परिवार का बोझ उठाने के बावजूद उसकी पहचान लिंग के आधार पर ही की जाती है। उसे पुरुष जैसी हैसियत वाले मानव-प्राणी के रूप में नहीं देखा जाता। यह नहीं माना जाता कि उसका भी अस्तित्व और व्यक्तित्वहै और वह स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने योग्य है।' [2]

तमिल उपन्यासों में से कावेरी का तमिल उपन्यास 'घर जाना है' शिवकामी का तमिल उपन्यास 'पुरानी बातों का बीतना' और 'आनन्ददायी' ऐसे ही उपन्यास है जिसमें नारी की स्वतंत्रता, उसकी अस्मिता, उसके अधिकार तथा उसके आक्रोश को बड़ी शालीनता के साथ चित्रित किया गया है।

---

1. (वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य – पाखी घोड़ा (आमुख) पृ०- 5)

2. (तोफिल मुहम्मद मीरान – बंदरगाह (अनु०- एच. बालसुब्रह्मण्यम्) भूमिका- पृ०-12)

हमारा देश एक साथ चौदहवीं और इक्कीसवीं शताब्दी में जी रहा है इसलिए दोनो के ही प्रभाव सर्वत्र दिखाई देते हैं। सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चॉद चाहिए' मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'चाक' नमिता सिंह का उपन्यास 'अपनी सलीबे' तीनों ही उपन्यासों में स्त्री स्वतंत्रता को अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चॉद चाहिए का मुख्य आदर्श कालिगुला का यह उद्धरण है – "अचानक मुझमें असम्भव के लिए आकांक्षा जागी। अपना यह संसार काफी असहनीय है, इसलिए मुझे चन्द्रमा, या खुशी चाहिए कुछ ऐसा जो वस्तुतः पागलपन सा जान पड़े। मैं असम्भव का संधान कर रहा हूँ – देखो तर्क कहाँ ले जाता है – शक्ति अपनी सर्वोच्च सीमा तक, इच्छा शक्ति अपने अनंत छोर तक। शक्ति तब तक संपूर्ण नहीं होती, जब तक अपनी काली नियति के सामने आत्मसमर्पण न कर दिया जाये। नहीं, अब वापसी नहीं हो सकती। मुझे आगे बढ़ते ही जाना है ...।"[1] इसी आदर्श उद्धरण का सहारा लेकर सिलबिल, वर्षा वशिष्ठ बनना चाहती है। जीवन के तमाम समझौते उसके मार्ग को प्रशस्त करते हैं। वह परिवार की रूढ़ियों और संस्कार कहे जाने वाले तमाम अवरोधों को तोड़ने में किंचित देरी नहीं करती है। जीवन में वह सब कुछ पाने में सफल रहती है जो एक मध्यवर्गीय लड़की के लिए सपने में भी संभव नहीं है। वर्षा उस ऊँचाई तक पहुँच जाती है जहाँ आजीवन कठोर श्रम और मेधा के बावजूद भी नहीं पहॅुचा जा सकता। सारे पुरस्कारों की कीर्ति में निमग्न वर्षा, हर्ष से विवाह पूर्व संबंधों तक में कोई परहेज नहीं करती लेकिन अनव्याहे उसकी गोंद में पुत्र का पैदा होना तथा अचानक हर्ष द्वारा आत्महत्या करने की घटना ने उसे अंदर से तोड़ दिया। वर्षा को जीवन की सारी उपलब्धियां व्यर्थ सी लगने लगती हैं। वह कहती है कि मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया। तब प्रश्न उठता है कि वर्षा के अंदर स्त्री स्वतंत्रता की भूख जो पैदा हुई थी, वह हर्ष के न रहने पर अचानक विलुप्त कैसे हो गयी? क्या स्त्री की तमाम उपलब्धियों से अधिक पत्नी बनकर गृहस्थी चलाना है? क्या एक गृहस्थी ही स्त्री की सम्पूर्णता है? यह कहना कि वर्षा

---

1. (सुरेन्द्र वर्मा – मुझे चाँद चाहिए (कलिगुल्ला का उद्धरण से)

नायिका यही चाहती है या उसके कहने से यही अर्थ ध्वनित होता है तो पूरी तरह गलत है, बल्कि भारतीय नारी सब कुछ के साथ अंत में एक शानदार घर और गृहपति भी चाहती है। स्त्री को स्वतंत्रता से अधिक सुरक्षा की जरूरत होती है जो इस उपन्यास का उद्देश्य भी रहा है।

'चाक' बिल्कुल दूसरे मनःस्थिति और जीवन प्रसंगों को लेकर लिखा गया उपन्यास है। स्त्री की स्वतंत्रता की पुरजोर मांग से और बेचैनी से प्रारम्भ हुआ यह उपन्यास अतृप्त यौन इच्छा में जाकर समाप्त होता है चित्रा मुद्गल के उपन्यास आवाँ की नायिका "नमिता" एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्म लेती है। 'नमिता' महानगर के जलते हुए परिवेश में तपकर अपने को संघर्ष के लिए तैयार करती है। नमिता का एक संघर्ष पुरष के साथ देह-संबंध को लेकर भी है। बचपन में वह सगे मौसा के बलात्कार का शिकार होती है तथा युवा होने पर मजदूर संघ का नेता अन्ना साहब उसकी इच्छा के विरुद्ध रति संबंध स्थापित करता है और बाद में करोड़पति आभूषण निर्माता के सम्पर्क में आने पर अनचाहा गर्भधारण करती है। इन सबकी परिणति स्त्री-स्वातंत्र्य और अपने पैरों पर खड़े होने के संकल्प में होती है। इसी प्रकार असमीया उपन्यास 'पाताल भैरवी' की हीराबाई धनाभाव में तथा अपने पैरों पर खड़े होने के संकल्प में ठीकेदार धनपत सिंह के वासना का शिकार होती है, लेकिन दोनों के प्रेम ने ऐसे मोड़ पर ला खड़ा किया कि धर्म के भिन्नता तथा परिवार से संबंध टूटने के डर के बावजूद धनपत तथा हीराबाई कोर्टमैरिज की तैयारी कर लेते हैं। परन्तु हीराबाई के जीवन में इतना सुख ऊपर वाले को सहन नहीं हुआ। अतः धनपत सिंह के बिलायती गाड़ी के ड्राइवर नवेन्दुकर और उसके मुनीम गोलोक चेटिया के मिली भगत से धन के लालच में धनपत सिंह की डकैतों के द्वारा हत्या कर दी जाती है। इस तरह पुनः एक बार फिर हीराबाई के जीवन में धीरे-धीरे वक्त ने प्रेम, शोक और स्मृति के गाढ़े रंग को फीका कर दिया।

स्त्री समस्या आज भी हमारे सामने भयावह है। देश की अस्सी प्रतिशत महिलायें अशिक्षित है। बाल विवाह, अनमेल विवाह, बाल-विधवा, परिवारों में सामंती अत्याचार, पर्दा, मारपीट तथा चहारदीवारी

तक सीमित रखने जैसे अंधविश्वास आज भी वैसे ही हैं। महानगरों में जिन पढ़ी-लिखी महिलाओं ने नौकरी और व्यवसाय को अपने जीवन का अनिवार्य अंग बनाकर घर की चहारदीवारी छोड़ी है वे बाहर आकर पुरुष मानसिकता को देख रही है कि उनकी दृष्टि में स्त्री आज भी वैसी ही यौन रूपा है, उसका भोग उनके जीवन की सार्थकता है। शिक्षा का पहला और आखिरी काम आत्मविश्वास जगाना होना चाहिए लेकिन यह नहीं हो पा रहा है। शिक्षित स्त्रियाँ और अधिक डिप्रेशन का शिकार है। घर और बाहर दोनों जगह पिसकर भी वे स्वतंत्र पहचान नहीं बना पा रही है। स्त्री से जुड़ी समस्याओं को महिमामंडित करने की नहीं बल्कि उन्हें उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने की जरूरत है। आज लेखन के क्षेत्र में जिस प्रकार महिलाएं आगे आ रही है उन्हें यह साहस दिखाना चाहिए।

साम्प्रदायिक समस्या पर बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में अच्छे उपन्यास आये हैं। हालांकि इसकी शुरुआत चार वर्ष पूर्व विभूति नारायण राय के चर्चित उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू' से ही हो चुकी थी, इसमें उपन्यासकार ने इलाहाबाद के मुहल्लों, खुल्दाबाद और बहादुरगंज के बीच स्थित हिन्दू-मुस्लिम के बीच दंगों से उत्पन्न साम्प्रदायिकता का उल्लेख किया है। इस उपन्यास में मीरगंज में स्थित वेश्याओं की समस्या को भी उठाया गया है जो कर्फ्यू लगने से उत्पन्न हुई थी। इस उपन्यास में दाम्पत्य का नंगा प्रदर्शन, साम्प्रदायिकता की चपेट में एक अनजान लड़की का बलात्कार तथा भूख, गरीबी के कारण एक माँ की गोद में उसके बच्चे की मृत्यु जैसी त्रासदियों को भी उपन्यासकार ने चित्रित किया है। इसी प्रकार गीतांजलि श्री के उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में भी साम्प्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है। गुजराती उपन्यास 'दीमक में हिन्दू-मुस्लिम के बीच उत्पन्न साम्प्रदायिकता है। पीढ़ियों से चला आ रहा साम्प्रदायिक सौमनस्य अचानक वैमनस्य की आग में कैसे परिवर्तित हो गया? इस उपन्यास के नायक बचू को यह पहेली समझ में नहीं आ रही। क्योंकि बचू के लिए हिन्दू पड़ोसी ईजूफूफी व ढींगा जैसे स्वजनों से भी ज्यादा आत्मीय है। फिर शहर की साम्प्रदायिक गुण्डा गर्दी उसके परिवार को नेस्ता-नाबूद कर देती है। वह अपने सहधर्मियों के हाथों

घायल होकर अस्पताल के बिछौने पर दम तोड़ने के लिए मजबूर होता है। इसी प्रकार पजाबी उपन्यास 'अध चाँदनी रात' पूरी तरह हत्या पर आधारित है। गुरदयाल सिंह ने अपने इस उपन्यास में पंजाब के ग्रामीण संस्कृति में कत्ल की घटना को नये दृष्टिकोण से देखा है। 'स्वाभिमान' पंजाब के गांवों का सर्वोत्तम गुण माना जाता है। पैतृक बदलना लेना मर्दानगी। इसी परम्परा के दौर में 'अध चॉदनी रात' का केन्द्रीय पात्र 'मोदन' अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए धणे का कत्ल करता है। इस पारिवारिक दुश्मनी को अंजाम देने के बाद मोदन जेल की सलाखों में जाता है। पंजाब की लोक-संस्कृति को उजागर करने वाला यह उपन्यास हमारी मानवीय सहानुभूति को व्यापक बनाता है और हमें मानव-विडम्बना से अवगत कराता है।

आजादी के बाद भारतीय जनमानस को भीतरी और बाहरी रूप से अनेक परिवर्तनों ने आंदोलित कर दिया है। राजनीति की दिशाहीनता एवं वर्ण व्यवस्था ने समाज में चारों ओर अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। लक्ष्मण गायकवाड़ के मराठी उपन्यास 'उठाईगीर' में इसी वर्णव्यवस्था के कारण जनजातियों में उत्पन्न समस्या को उठाया गया है। उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में महाराष्ट्र के गाँवों में पैदा हुई उठाईगीर जनजातियों के रहन-सहन, खान-पान, अंधविश्वासों, समाज के उच्च वर्गों द्वारा उन जातियों पर किये गये अत्याचारों का चित्रण किया है। आजादी के चालीस वर्ष बाद भी महाराष्ट्र प्रांत के गाँवों में जन्मी ये उठाईगीर जाति के लोगों को कोई काम-धन्धा नहीं दिया जाता। इस जाति के लोगों की गरीबी और भूख की छटपटाहट ने इतना मजबूर कर दिया कि इन लोगों के पोषण के लिए चोरी के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं बचता। इसके लिए इस जाति का एक दल उठाईगीर के लिए शिक्षा देता है जिस प्रकार से विद्यालयों में शिक्षा दी जाती है। उठाईगीरी में निपुण होने के बाद व्यक्ति को छः महीने तक उस दल को चोरी का कुछ हिस्सा वेतन के रूप में देना पड़ता है, परन्तु युवा पीढ़ी का शिक्षित 'लक्ष्या' जनजातियों के अधिकारों के मांग के लिए इसी जाति के स्त्री पुरुषों के अंदर जागरुकता पैदा करता है।

सामाजिक क्षेत्र में पुराने आदर्शों एवं जीवन मूल्यों के टूटने और नये मूल्यों को पूर्णतः स्वीकार न करने की असमर्थता ने नयी पीढ़ी को मानसिक कुंठाओं का शिकार बनाया। आर्थिक विषमता ने नारी को नौकरी के लिए विवश कर दिया। परिणामतः पारिवारिक संबंधों में तनाव एवं विचित्र मानसिकता को जन्म दिया। धार्मिक विश्वास एवं आस्थाएं व्यक्ति के नैतिक अपराधों पर आवरण डालने वाली रह गई। इस धुरीहीन एवं विषैले परिवेश में जीने वाला मनुष्य आज प्रायः समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर जीवन घसीटता चला जा रहा है। आज इसी स्थिति को भारतीय आधुनिक उपन्यास अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा कर रहा है।

परिवार, धर्म तथा समुदाय में आज तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। राजनीतिक एवं सामाजिक अवस्था इस प्रकार निर्धारित हो गयी है कि तमाम नारों एवं दावों के बावजूद उनकी विभिन्न धाराओं में सम्मिलित होने का अवसर आज व्यक्ति को नहीं मिल पाता। फलतः वह आत्मकेन्द्रित एवं तटस्थ निर्वैयाक्तिक होता जा रहा है। कहीं-कहीं तो वह पूरी समाज-धारा से कटकर अकेला पड़ जाता है। पूंजीवादी प्रभाव के कारण वह अपने को उपेक्षित, अपमानित और कुंठित पाता है।

आज के भारतीय समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार चारित्रिक संकट, विश्वासहीनता एवं मूल्यों के विघटन ने मनुष्य को एक ऐसे बिन्दु पर ला खड़ा किया है, जहाँ वह अपने अर्थ को खोता हुआ पाता है। आधुनिक मनुष्य अपनी संस्कृति तथा विचारधारा दोनों से ही कट गया है। आधुनिकता में लघुमानव, व्यर्थ जीवन, आत्मनिर्वासन आदि का जन्म यहीं से होता है।

इस प्रकार निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारतीय उपन्यासों में उपन्यासकारों ने आधुनिकता के दौर में मानव नियति का यथार्थ अंकन, भारतीय जीवन में उथल-पुथल, अकेलापन, एकाकीपन से उत्पन्न अध्यात्म, संत्रास, ग्रामीण जीवन तथा महानगरीय जीवन की विसंगतियां, पुरुष-प्रधान समाज में नारी शोषण, नारी संहिता को स्वीकार करने की नियति तथा नारी पीड़ा को चित्रित किया है।

सामाजिक, राजनीतिक, वैयक्तिक, विडम्बना, विद्रूप, व्यंग्य के अनंत अवसर, कुंठा, निराशा, अवसाद, हताशा की तीखी अनुभूति, विश्रृंखलता, मूल्यहीनता का नंगा प्रदर्शन, वैश्वीकरण, सर्वत्र प्रश्न चिन्ह, प्रश्नों की श्रृंखला, पारिवारिक विखंडन, संबंधों का टूटना और बनना, धोखाधड़ी, अंध विश्वास, हेराफेरी, लूटपाट, अपहरण, बलात्कार और नैतिक मूल्यों का संकट आदि सभी भारतीय उपन्यासों में आधुनिकता की अभिव्यक्ति देते हैं, जो बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के भारतीय उपन्यास इस आधुनिकता से भरा पूरा है।

द्वितीय अध्याय

विषय परिधि के भीतर निम्नलिखित उपन्यास विवेच्य है।

1980-2000 ई० के बीच के प्रसिद्ध हिंदी उपन्यासों तथा उपन्यासकारों के नाम –

1.	गिरिराज किशोर	–	पहला गिरमिटिया।
		–	तीसरी सत्ता।
		–	ढाई घर।
2.	श्रीलाल शुक्ल	–	पहला पड़ाव।
		–	बिस्रामपुर का संत।
3.	शिवप्रसाद सिंह	–	नीला चाँद।
		–	शैलूष।
4.	गोविन्द मिश्र	–	हुज़ूर दरबार।
		–	तुम्हारी रोशनी में।
		–	पाँच ऑगनों वाला घर।
5.	मैत्रेयी पुष्पा	–	अल्मा कबूतरी।
		–	झूलानट।
		–	चाक।
		–	इदन्नमम्।
6.	सुरेन्द्र वर्मा	–	मुझे चाँद चाहिए।
		–	दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता।

7. शिवानी – चल खुसरो घर आपने।

8. प्रभा खेतान – पीली ऑंधी।

9. कृष्णा सोबती – दिलो दानिश।

– समय सरगम।

10. मृदुला गर्ग – अनित्य।

– कठ गुलाब।

11. चित्रा मुद्‌गल – एक जमीन अपनी।

– आवॉं।

12. विवेकी राय – सोनामाटी।

– समर शेष है।

13. शैलेश मटियानी – गोपुली गफूरन।

– बावन नदियों का संगम।

14. अमृत लाल नागर – अग्निगर्भा।

– खंजन नयन।

– बिखरे तिनके।

– करवट

15. निर्मल वर्मा – अंतिम अरण्य।

16. अलका सरवागी	–	कलि-कथा : वाया बाइपास।
17. रवीन्द्र वर्मा	–	निन्यानबे।
18. मनोहर श्याम जोशी	–	कुरु-कुरु स्वाहा।
	–	हमजाद।
19. चंद्रकान्ता	–	अपने-अपने कोणार्क।
20. विभूतिनारायण राय	–	शहर में कर्फ्यू।
21. अमृता प्रीतम	–	कोरे कागज़।
22. भीष्म साहनी	–	कुन्तो।
	–	बसन्ती।
	–	नीलू नीलिमा नीलोफर।

प ,ला। गिरमिटिया

गिरिराज किशोर का उपन्यास पहला गिरमिटिया गाँधी के दक्षिण अफ्रीकी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास है। इसमें गांधी के जीवन के उस पक्ष को उपन्यास का विषय बनाया गया है, जो संवेदना की आँखों से ही देखा जा सकता है। ऐसा नहीं कि इसमें इतिहास नहीं है। इस उपन्यास का नायक महात्मा गांधी नहीं बल्कि मोहनदास है – हमारे जैसा एक आदमी, वह भी इक साला गिरमिटिया जो रोजी-रोटी के लिए दक्षिण अफ्रीका गया था। वह पहला गिरमिटिया था जो बैरिस्टर भी था और कुली भी। उसने दक्षिण अफ्रीका से दूसरे पांच-साला गिरमिटियों को साथ लेकर उनकी मुक्ति का बिगुल बजाया था, जिसमें हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी सब एशियाई शामिल थे। उपन्यासकार ने अपनी

संवेदना, कल्पना और सशक्त रचनात्मक भाषा शैली का इस्तेमाल करके अफ्रीका में रंगभेदतथा गोरे उपनिवेशवादियों का, जो स्थानीय और भारतीय मूल के निवासियों के प्रति घृणा और क्रूरता का भाव रखते हैं, मार्मिक चित्रण किया है। इसके साथ ही उस सामूहिक संघर्ष का भी अंकन हुआ है जो गांधी जी की प्रेरणा से उठ खड़ा हुआ था। गिरिराज किशोर ने अपने इस उपन्यास में दक्षिण अफ्रीका की गन्ध को बनाये रखा है। उन गिरमिटियों के पसीने की खुशबू को भी नही खोने दिया है, जिन्होंने तमाम यातनाओं के बीच जीवंत रहने का संकल्प किया था। गांधी के अंतरंग मन तथा उनकी चेतना के साथ-साथ उनके अंतर्विरोधों के बारे में भी उपन्यास पूरी तरह मुखर है।

तीसरी सत्ता

गिरिराज किशोर के उपन्यास 'तीसरी सत्ता' का केन्द्रीय विषय आधुनिक नारी के दाम्पत्य जीवन मे उत्पन्न जटिलताओं से सम्बद्ध है। आधुनिक भारतीय स्त्री शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होकर भी पुरानी सामाजिक नैतिक रूढ़ियों और मान्यताओं से मुक्त नहीं हो पायी है। पति उसे अपनी 'वस्तु' समझता है और उसके चरित्र पर शक करना तथा उसे शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित करते रहना अपना हक मानता है। गिरिराज किशोर ने इस स्थिति का तर्क संगत और विश्वसनीय चित्रण किया है। गिरिराज किशोर केवल अतीत की स्मृतियों में ही नहीं भटकते बल्कि वर्तमान के प्रश्नों और समस्याओं से भी टकराते हैं। इस उपन्यास में इन्होंने समकालीन नारी-जीवन के प्रश्नों को उभारा है।

ढाई घर

गिरिराज किशोर के उपन्यास 'ढाई घर' में परिवार की तीन पीढ़ियों की गहरी संवेदना मानवीय गरिमा, करुणा, सामंती व्यवस्था, नारी भोग की नियति तथा इस सामंती व्यवस्था के विरुद्ध 'विद्रोह का चित्र अंकित किया गया है। 'ढाई घर' का नायक हरी राय या बड़े राम अपनी संवेदनशीलता मानवीय गरिमा और करुणा में भव्य और नवीन है। वफादार घोड़े के प्रति उनका प्रेम उनकी अद्वितीय

संवेदना का परिचायक है। उनका तिल-तिल टूटना बड़ा ही करुण है। उनकी पराजित परिस्थितियों को देखते हुए, अपरिहार्य होने पर भी, कसक भरी सहानुभूति पैदा होती है। उनके अंतिम समय में परिवार का आन्तरिक षड्यन्त्र भी उनके टूटने का एक कारण बनता है। बड़े राय जमींदारी व्यवस्था के अंतिम टूटते हुए स्तम्भ है जबकि उनका ज्येष्ठ पुत्र भास्कर राय उस व्यवस्था की दयनीय परिणति है। उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है। उसका घिसटते हुए जीना सामन्ती व्यवस्था के पतन की चरमावस्था है।

उपन्यासकार ने अपने उपन्यास ढाई घर में सामंती व्यवस्था में नारी के भोग की वस्तु बन जाने की नियति का यथार्थ अंकन किया है। इस उपन्यास में स्त्री पात्रों की निर्यात एक सी है। शिक्षा और ज्ञान से वंचित, घर की चहारदीवारी में बंद, पुरुष के शोषण और अत्याचार को अपनी नियति के रूप में स्वीकार करना उनके जीवन का अमिट सत्य है; भास्कर राय की पुत्री सोना, बड़े राय की पुत्री रानी तथा नौकरानी सभी सामंती व्यवस्था के दृष्टिकोण को उजागर करती हैं परन्तु सोना इस स्थिति से विद्रोह करती है। इस सामंती व्यवस्था से निकलने के लिए वह सफल संघर्ष करती है।

पहला पड़ाव

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास पहला पड़ाव का केन्द्रीय समस्या है बड़े शहरों में बनने वाले विशाल भवनो के इर्द गिर्द की जिन्दगी जिसमें इन भवनों के प्रबन्धक, इंजीनियर, ठीकेदार, मेठ और मुंशी मजदूरों का शोषण करते हैं और स्वयं भ्रष्टाचार की गन्दी ज़िन्दगी जीते हैं। इस उपन्यास में आज की जिन्दगी की विसंगतियों पर चौतरफा प्रहार ही उपन्यासकार का उद्देश्य बन गया है। इस उपन्यास में व्यंग्य का मुख्य माध्यम शब्द क्रीड़ा और भाषा का खिलवाड़ है, इसलिए इसमें संवेदनशीलता का अभाव है।

बिस्रामपुर का सन्त

बिस्रामपुर का सन्त, श्रीलाल शुक्ल का राजनीतिक उपन्यास है। इसमें शुक्ल जी ने उन राजनीतिक पुरुषों के पाखंड का अंकन किया है जो बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाते हुए कुर्सियाँ हासिल करते हैं और किसी कारण कुर्सी छिन जाने पर सन्त की छद्म भूमिका अपना लेते हैं। वे पर्दे के पीछे पद-प्राप्ति के लिए जी तोड़ कोशिश करते हैं पर ऊपर से निर्विकार बने रहने का नाटक करते हैं। सत्ता से वंचित हो जाने पर भी उनका नाटकीयता में जीने का अभ्यास नहीं छूटता।

उपन्यासकार ने इस उपन्यास में गौण कथ्य के रूप में, एक ही स्त्री के प्रति राजनेता पिता और बुद्धिजीवी पुत्र दोनों के प्रेमाकर्षण की विडम्बना का चित्रण भी किया है जिसका तनाव न झेल पाने के कारण पिता आत्मघात का विकल्प अपनाता है। उपन्यास में भूदान आन्दोलन के खोखलेपन, छद्म और उसकी दयनीय असफलता का भी अंकन उपन्यासकार ने किया है, पर राजनेता की स्मृतियों और चालाकियों से निर्मित इस कथा-संसार में भूदान आंदोलन और भूमि-समस्या उपन्यास की केन्द्रीय समस्या नहीं है। कुल मिलाकर समकालीन राजपुरुषों के चरित्र की विडम्बना की प्रस्तुति ही उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य है।

नीला चाँद

शिव प्रसाद सिंह का उपन्यास नीलाचाँद उनका तीसरा महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने भारतीय इतिहास के मध्यकाल की काशी को देखने का प्रयास किया है, इसके लिए वह 1060 ई० के आसपास की काशी की जिन्दगी का चयन किया है। अपने देश और राजा के प्रति असीम वफादारी से भरी उसके लिए असंख्य कष्ट उठाती काशी की प्रजा का आदर्श, पूर्णतः अपदस्थ व निराश्रय होने के बावजूद हिम्मत न हारते हुए दुर्गम प्रयत्नों से पुनः अपने राज्य को हस्तगत करने वाले कीरत के पुरुषार्थ, अत्याचारी राजाओं के पतनगामी परिणाम तथा ऐसे ही और

भी बहुत कुछ जो हर जमाने में किसी भी व्यक्ति और समाज के लिए ग्राह्य हो सकते है।

उपन्यासकार द्वारा 11वीं सदी के उत्तर भारत में नारी दशा का चित्रण एकाधिक रूपों में वर्तमान युग के हालात का बोध कराता है। पत्नी के रूप में नारी की अवहेलना की कथा रज्जुक के निजी जीवन के प्रसंग में बड़ी शालीनता से न सिर्फ दिखाई गयी है बल्कि उसके जीवन में आती रिक्तता का अहसास भी कराया गया है। उपन्यासकार ने पति-पत्नी संबंध का आदर्श रूप कीरत-शोभती संबंध में प्रस्तुत किया है जो आज के समाज के लिए आदर्श दाम्पत्य जीवन है। बहुपत्नी प्रथा का परिस्कृत रूप, स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रसंग, अंधविश्वास आदि को भी उपन्यासकार ने इस उपन्यास का विषय बनाया है।

शिवप्रसाद सिंह ने अपने इस उपन्यास में भारतीय सेनाओं द्वारा युद्ध के आदर्श नियमों का अंधानुकरण करते रहने से भारतीय सेना सबल रहते हुए भी तुर्क आक्रमणकारियों के सामने घुटने टेकने के लिए मजबूर होने की बात कहकर यह स्पष्ट संकेत किया है कि समय के मुताबिक हर सिद्धांत, हर मूल्य व नैतिकता आदि को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर लेने की गतिशीलता ही समझदारी व सफलता का मापदंड होती है और यही बैध भी है।

शैलूष

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'शैलूष' का केन्द्रीय विषय दलित जीवन है। यह उपन्यास भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य क्षेत्र में निवास करने वाले नये के कबिलाई जीवन पर आधारित है। उपन्यासकार ने इसमें खानाबदोश नटों के जीवन से जुड़े लोक संस्कृति, संघर्ष, जीवन में घटने वाली तमाम शक्तियों के दबाव के कारण उन पर होने वाले अत्याचार अन्याय, छल-कपट आदि को पात्रों के माध्यम से जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। जीवन की संवेदनशील सच्चाइयों और मानवीय संवेगों का सहज चित्रण भी उपन्यास में उभर कर सामने आया है। इस उपन्यास में एक पढ़ी-लिखी करिश्माई

व्यक्तित्व वाली ब्राह्मण युवती सावित्री एक नटों युवक के प्रेम में पड़कर विवाह कर लेती है सावित्री नट-पत्नी बनकर उच्च वर्ग के दमन और शोषण से नटों की मुक्ति के लिए संघर्ष करती हैं, जिसमें वह आश्चर्यजनक रूप में सफल भी होती है। इस प्रकार यह उपन्यास गरीबी, विषमता, भावुकता, आशावाद, वर्णव्यवस्था, वर्ग-भेद तथा आजादी के बाद उच्च वर्ग और चालाक लोगों द्वारा कबिलाईयों के शोषण का एक कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करती है। अतः शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास कबीलाई जीवन का एक गहन अनुसंधान और उनकी भीतरी दुनिया का एक सजीव दस्तावेज है।

हुज़ूर दरबार

हुज़ूर दरबार में गोविन्द मिश्र ने अपने ही परिचित क्षेत्र की रियासत को कथाभूमि बनाकर देश की आजादी के कुछ पहले के काल फलक पर राजा रजवाड़ों की जीवन-पद्धति एवं मानसिकता का अंकन किया है। गोविन्द मिश्र भारतीय लोकतंत्र की विकृतियों से इतने आहत और प्रतिक्रियावादी हो गये जान पड़ते हैं कि पुराना राजतंत्र उन्हें अंतिम शरण्य के रूप में दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आठवें दशक का राजनीतिक माहौल कुछ ऐसा हो गया था जिसमें प्रजातांत्रिक व्यवस्था ढहती हुई प्रतीत हो रही थी। इस व्यवस्था का प्रभाव उपन्यासकार पर स्पष्टतः दिखाई देता है। हुज़ूर दरबार में 'हिज हाइनेस महाराज रुद्र प्रताप सिंह' एक प्रजा वत्सल और न्यायप्रिय राजा के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं जिनकी मृत्यु के बाद लोग बड़ी हसरत के साथ उन्हें और उनके शासन-प्रबन्ध को याद करते हैं। यहाँ प्रश्न 'प्रजा' का है तंत्र के नाम में क्या रखा है? प्रजातंत्र में प्रजा का जितना हनन, शासकों का जितना स्वपोषण है – उसे क्या नाम बदल देने (सामंत की जगह 'प्रजा प्रतिनिधि' कह देने) मात्र से कोई अंतर पड़ता है प्रश्न शासित को न्याय दिलाने, उसके प्रति आत्मीयता का या 'स्व' का भाव रखने का है। प्रजातंत्र के नाम पर स्वपोषण, परपोषण को जायज़ कैसे ठहराया जा सकता है? और सामंत कह देने मात्र से क्या प्रजापीड़क होना निश्चित हो जाता है? प्रश्न व्यवस्था के न्यायप्रिय होने और वत्सलता का है। यदि ये प्रजातंत्र से लुप्त होते जा रहे हैं और भारतीय इतिहास के किसी अन्य तंत्र

(राम के राजतंत्र या अदूर अतीत के उपन्यास के सामंत में) मे ये तत्व विद्यमान रहे हैं तो क्या उसे केवल यूरोपीय इतिहास के 'सामंत' के आधार पर बर्खास्त किया जा सकता है? प्रश्न सत्ता के उपभोग का है, किसी तंत्र का नही। इस प्रकार 'प्रजामंडल' के माध्यम से होने वाले जन आन्दोलन को भी उसकी सहानुभूति नहीं प्राप्त हो सकी है, इसके विपरीत वह राजतंत्र के पराभव को गहरी हार्दिकता और पीड़ा के साथ अंकित करता है।

तुम्हारी रोशनी में

श्री गोविन्द मिश्र अपने उपन्यास तुम्हारी रोशनी में दफ्तरशाही समाज का अत्यन्त प्रमाणिक चित्र प्रस्तुत करते हैं पर इससे अधिक महत्वपूर्ण उनके द्वारा इस समाज में विकसित होने वाले स्त्री-पुरुष संबंधों का अनुभूतिपूर्ण अंकन है। सुवर्णा नामक पात्र को केन्द्र में रखकर उन्होंने स्त्री की अस्मिता से जुड़े सवालों को गहरी संवेदनशीलता और तर्क के साथ प्रस्तुत किया है। सुवर्णा के लिए जीवन खुशी का पर्याय है जिसे पाने के लिए वह परम्परागत दाम्पत्य संहिता की परवाह नहीं करती। उसे जीवन में ऐसे व्यक्ति की तलाश है जिसके साथ वह जीवन के हर आयाम को जी सके। अपने पति में उसे यह व्यक्ति नहीं मिला है अतः वह अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में अपना सुख तलाशने की कोशिश करती है। सोम, श्याम, दीपक, अरविन्द और विशेषतः अनन्त के रूप में उसे उस सुख की प्राप्ति होती है। अनन्त को छोड़कर उसका कोई भी मित्र भावनात्मक रूप में उसका सहयात्री नहीं बन पाता वह एक तरफ अपने पति और बच्चों को भरपूर प्यार देती है, तो दूसरी तरफ परम्परगात नारी-संहिता की उपेक्षा करती हुई अपने दोस्तों के साथ मुक्त आचरण करती हैं, जिसमें चुम्बन-आलिंगन का भी परहेज नहीं है। यद्यपि वह नैतिक निषेध को नहीं मानती कि पति के अलावा और किसी से काम-संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता पर वह अपने संयम को हाथ से नहीं जाने देती। उसे विश्वास है कि उसका पति रमेश उसे समझता है। आरम्भ में रमेश इस स्थिति से उदासीन दिखाई देता है। कुछ दिन बाद रमेश का पति-बोध आक्रामक दिखाई पड़ता है और वह अपने उन सारे

अधिकारों का उपयोग करता है जो भारतीय पति को परम्परा से प्राप्त हैं। दूसरी तरफ सुवर्णा को इस बात का एहसास होता है कि स्त्री के लिए परम्परागत नारी-संहिता का उल्लंघन करना सम्भव नहीं है, पर सुवर्णा इस स्थिति से विद्रोह करती है। अपने लिए नया जीवन साथी चुनने का साहस दिखाती है। इससे उपन्यासकार के आधुनिक नारी की अस्मिता और मुक्ति संबंधी दृष्टिकोण का पता चलता है। इस प्रकार गोविन्द मिश्र ने अपने इस विजन को संवेदना, विचार, शिल्प और भाषा के सर्जनात्मक स्तर पर प्रस्तुत किया है। आधुनिक नारी की अस्मिता के अस्वीकृत आयामों को उपन्यासकार ने उभार कर न केवल उसे परंपरागत मान्यताओं के बरबस रखा है वरन् स्वयं आधुनिक कहे जाने वाले पुरुष को उसका आमना सामना करने को मजबूर किया है।

पाँच आँगनों वाला घर

गोविन्द मिश्र का पाँच आंगनों वाला घर उपन्यास तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में 1940 से 1950 के बीच मध्यवर्गीय अभिजात परिवार के ढहते हुए घर को सम्भालने की कोशिश में लगे व्यक्तियों की व्यथा और सक्रियता का चित्रण है। दूसरे भाग में 1960 से 1975 के बीच पाँच आँगनों वाला घर की पूरी विघटन कथा अपनी समग्र परिवेशीय पृष्ठभूमि के साथ उपस्थित की गयी है, जिसमें बड़े घर के बटवारे से सिर्फ घर ही विघटित नहीं हुआ है बल्कि मनुष्य का मन भी सिमटकर छोटा होता दिखाया गया है। इस उपन्यास के तीसरे भाग में 1980 से 1990 कते बीच के बड़े घर का एक छोटा परिवार भी खंड-खंड हो रहा है जिसमें बड़ा घर एक व्यक्ति तक सिमट गया है। इस भाग में अपनी पाँच आँगनों वाला घर की सांस्कृतिक धरोहर से पूर्णतः अनजान व्यक्तियों की जीवनदशा का कारुणिक बोध कराया गया है। यह तीसरी पीढ़ी है जिसमें अत्यधिक आत्मक्रेन्द्रित व्यक्ति समूची भारतीय आध्यात्मिक परम्परा से वंचित होकर उपभोक्ता संस्कृति के बहकावे में अपनी अस्मिता खो रहे हैं। वे केवल अपनी भौतिक और ऐन्द्रिय सुखों की तलाश में धुरीहीन और दिशाहीन बनकर भटकने के लिए बाध्य हैं।

अपने पाँच आँगनों वाले घर में गोविन्द मिश्र ने सहयोग, सद्भाव, अनुशासन, सुरक्षा और सकून की जिंदगी जीने वाले मध्यवर्गीय अभिजात परिवार की कथा प्रस्तुत किया है, जो अपनी आधी सदी की यात्रा में किस प्रकार टूटता, बिखरता और संकीर्ण स्वार्थो की अंधेरी गलियों में भटकने के लिए बाध्य होता है। उपन्यासकार ने उच्चवर्गीय जीवन में आये बदलाव को, जो एक विस्तृत क्षेत्र से निकलकर अन्धी गली के अंत में पहुँचने की दहशतभरी यात्रा में परिणति होता है विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया है। चूँकि परिवार भारतीय समाज की धुरी है उसे केन्द्र बिन्दु बनाकर चलने वाला यह उपन्यास परोक्ष रूप से पूरे भारतीय समाज का आलोचनात्मक आकलन है। उपन्यास में 1940 से 1990 तक की राजनैतिक परिस्थिति को आवश्यक संदर्भ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक इसके ब्यौरे में नहीं गया है। इसलिए कहीं से भी यह उपन्यास ऐतिहासिक दस्तावेज का रूप धारण नहीं करता। यह कलात्मक कृति ही रहता है। यह उपन्यास भारतीय परम्पराओं, संस्कारों, मूल्यों के सशक्त वर्गीय समाज की पचास वर्षों की बदलती मानसिकता का प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। पाठकों के मूल्यों, आचरण-धर्मों और जीवन विषयक अर्थो को तलाशने, परखने और स्वीकार करने की मानसिक ऊर्जा उत्पन्न करता है। उसे संवेदनात्मक चिंतन की भूमिका में ले जाता है। यहीं उपन्यास की उत्कृष्टता और सफलता है।

अल्मा कबूतरी

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' का केन्द्रीय विषय कज्जा और कबूतरा का समाज से मुठभेड़ और द्वन्द्व है। लेखिका का यह उपन्यास उसके पहले के उपन्यासों से अधिक नया और सशक्त है। इसमें हारे हुए व्यक्तियों की कथा है जिससे पाठक वर्ग गहरी पीड़ा की अनुभूति करते हैं। यह सभ्य कहे जाने वाले असभ्य और बर्बर समाज का तैलाचित्र प्रस्तुत करता है। 'अल्मा कबूतरी' एक आधुनिक नारी के विद्रोह की कहानी है। वह अपने साथ रहते राणा को बच्चे से मर्द बनाती है। कुमारी मां बनने का साहस दिखाती है। वह पशुवत जीवन जीने के लिए बाध्य होती है, लेकिन हार

नहीं मानती। चूंकि भारतीय समाज इतना विशाल एवं विविधताओं से भरा है कि आज भी कुछ ऐसी जनजातियां हैं जो आजादी का अर्थ नहीं जानतीं जिनके पास न तो अपनी जमीन है और न ही ठिकाने का घर बार। ये औपनिवेशिक शासन में केवल उपेक्षा एवं घृणा के शिकार हुई हैं। यद्यपि आजादी के बाद इन जातियों को अधिकार प्राप्त हो गया है, परन्तु जीविकोपार्जन का साधन न उपलब्ध होने के कारण इनके पुरुष अपराध कर्म तथा स्त्रियॉ देह-व्यापार के लिए विवश होती हैं। लेखिका ने अपने इस उपन्यास में कटु यथार्थवाद को गहरी संवेदना और जबर्दस्त सर्जनात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास का मुख्य क्षेत्र बुन्देलखण्ड है जिसमें बसने वाली कबूतरी जाति के जीवन को विषय बनाया गया है, जो अपनी वंश परम्परा और झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई की अंगरक्षिका झलकारी से जोड़ते हैं। इसके साथ ही लेखिका ने समानान्तर सभ्य समाज से, जिन्हें वे 'कज्जा' कहकर पुकारते है, उनके टकराव, संघर्ष और पराजय को भी अत्यंत विश्वसनीय और मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है।

झूलानट

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'झूलानट' का विषय जाट समाज की एक पारिवारिक स्थिति है जिसमें सास-बहू, माँ-बेटे, पति-पत्नी, और देवर भाभी के संबंधों की कहानी एक खास अन्दाज में प्रस्तुत की गयी है। इस उपन्यास में माँ और पत्नीवत् भौजाई के संबंधों को पाट से पिसते एक भोले जाट युवक का मानसिक उद्वेग प्रमुख है। सास-बहू के सम्बन्धों के चित्रण के साथ-साथ शीलों के रूप में एक जाट युवती के परम्परागत मूल्यों को चुनौती देने, स्त्री संहिता को नकारने और विद्रोह की मुद्रा में तन कर खड़े होने का चित्रण भी किया गया है। शीलों का चरित्र लेखिका के स्वयं के उपन्यास 'चाक' का स्त्री पात्र सारंग की ही तरह अद्भुत जिजीविषा, अपना भाग्य स्वयं लिखने के संकल्प और समाज से अकेले ही लोहा लेने की क्षमता पर खरा उतरता है पर उसमें नारी शक्ति का कोई भास्वर रूप नहीं लक्षित होता। फिर भी स्त्री-अस्मिता का प्रखर प्रश्न तो उजागर हुआ ही है।

चाक

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' का केन्द्रीय विषय 'ग्रामीण परिवेश में उभरती नयी नारी चेतना है।'' इसमें खेती-किसानी से जुड़े नटों का वर्णन है, तथा जाट समाज में नैतिक संहिताओं की रूढ़ियों में जकड़ी पुरानी पीढ़ी के क्रूरता भरे हठ का भी, जिसके तहत नारी संहिता का उल्लंघन करने वाली स्त्री से जीने का अधिकार छीन लेना एक बहुत मामूली बात है। इसके प्रतिरोध में कोई भी पुरुष समाज खड़ा नहीं होता। इस क्रूर परिवेश में उपन्यासकार ने नारी-नियति का जो चित्र प्रस्तुत किया है। उसमें चौकाने वाली ताजगी है। इस समाज में न केवल पिछड़ी जाति की, बल्कि दलित समाज की स्त्री भी प्रेम करने के अधिकार से वंचित है। इस अपराध के लिए रेशम की हत्या कर दी जाती है, या गुलबन्दी को जिन्दा जला दिया जाता है। कोई भी पुरुष इस अमानवीय कुकृत्य के विरोध में खड़ा होने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। इसके विरोध में खड़ी होती है उपन्यास की सशक्त स्त्री पात्र 'सारंग', जो बहुत पढ़ी-लिखी नहीं पर उसमें संकल्प की गजब की दृढ़ता है। इस स्त्री में अन्याय से लड़ने, आततायियों से मुकाबला करने, नारी अधिकारों के लिए जान दे देने की हिम्मत और दृढ़ता है। उसमें गहरी संवेदनशीलता, विवेक और संगठन की क्षमता भी है, पर ये सब उसमें कच्चे उपादान की तरह हैं। लेकिन पुरुष पात्र श्रीधर इस कच्चे उपादान को सही रूप देने के लिए कुम्भकार का काम करता है; और सारंग नारी संहिता की समस्त मान्यताओं को चुनौती देती हुई न केवल श्रीधर से देह-संबंध स्थापित करती है, बल्कि पुरुष सत्ता को चुनौती देने के लिए ग्राम पंचायत के चुनाव में 'प्रधान' पद के लिए खड़ी भी हो जाती है। पति से लेकर गाँव का समस्त पुरुष-समाज विरोध करता है, पर वह अपने खुद के निर्मित नारी-संगठन के बल पर पुरुष सत्ता को चुनौती देने का साहस-भरा कदम उठाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक सत्ता स्त्री के हाथ में नहीं आ जाती पुरुष समाज द्वारा उसका शोषण और उस पर होने वाला अत्याचार समाप्त नहीं हो सकता।

इदन्नमम्

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'इदन्नमम्' में एक विजन है जो लेखिका के बुन्देलखंडी जीवन के प्रामाणिक और अंतरंग अनुभव, पहाड़ी अंचल की धरती और बीहड़ पहाड़ के जीवन के सामाजिक यथार्थ तथा गहरी मानवीय संवेदना से सम्पन्न है। अपने पूर्व के उपन्यासों में लेखिका ने बुन्देलखंड की अहीर कन्याओं की करुण नियति कथा को, जो किसी न किसी रूप में नारी मात्र की नियति कथा है, गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। परन्तु इदन्नमम् मे यह कथा करुणा की सीमा का अतिक्रमण करती हुई जुझारू हो गयी है। इदन्नमम् की 'मन्दाकिनी' वास्तविक अर्थों में एक जुझारू युवती है। जो केवल परिवार और समाज द्वारा स्त्री के लिए निर्मित बंधनों को ही नहीं तोड़ती परन्तु उस शोषण के विरुद्ध भी तनकर खड़ी होती है जो आज के नेताओं और माफिया ठेकेदारों द्वारा आदिवासियों और अन्य ग्रामीणों पर कहर के रूप में बरपा जा रहा है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने बुन्देलखंड के परिवेश और ग्रामीण समाज को उसके पूरे खुरदरे यथार्थ के साथ वैसी ही खुरदरी भाषा के सहारे, जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। चाहे मन्दाकिनी की 'बऊजी' हो या उसके ममहर परिवार के अक्खड़ किसान सभी अपने मौलिक जीवन्त रूप में उद्रिक्त हैं।

मुझे चाँद चाहिए

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' के कथा-संसार में कलाकार के संघर्ष के साथ-साथ स्त्री के संघर्ष की कथा भी गहरे पीड़ा-बोध, संजीदगी और कलात्मक संयम के साथ प्रस्तुत की गयी है। कलाकार के रूप में वर्षा, हर्ष, चतुर्भुज आदि के संघर्ष अन्य के संघर्ष के सामने हल्के होने पर भी उपेक्षणीय नहीं है। वर्षा का कला-संघर्ष 'खुलजा सिमसिम' की तरह एक के बाद एक उपलब्धियों से जुड़ते रहने के कारण कोई तनाव पैदा नहीं करता, फिर भी वह सपाट नहीं है। उसका चरित्र एक मध्यवर्गीय रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार की लड़की के यशोदा पांडेय से सिने-तारिका वर्षा वशिष्ठ तक

की यात्रा तथा स्त्री के संघर्ष और विद्रोह का असाधारण उदाहरण है। वह एक महत्वाकांक्षी लड़की है जो परम्परागत व्यवस्था की सारी संहिताओं को रौंदती और बाधाओं को पार करती आर्थिक आत्मनिर्भरता और शक्ति अर्जित करती है। उसका संघर्ष जितना बाहरी और व्यवस्था विरोधी है उतना ही निजी और आन्तरिक भी है। इस प्रकार यशोदा पांडेय या सिलबिल का वर्षा वशिष्ठ में रुपान्तरण मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री के अत्याधुनिक स्त्री में रूपान्तरण की विश्वसनीय कहानी है।

दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' वैश्विक स्तर पर बढ़ते बाजारवाद की मनोवृत्ति का उपज है। इस बाजारवाद में उपभोक्ता समाज में जीने की ही शर्त है- अपनी किसी योग्यता को बाजार में बेच पाना। छोटे बाजार में छोटी कीमत, बड़े बाजार में ऊँची कीमत। अच्छी कीमत पाने के लिए बाजार की समझ जरूरी है। ऊँची कीमत से ही सरप्लस, अधिशेष बनेगा और धन का संचय हो सकेगा। इससे सुख और ऊँची जीवन शैली तो प्राप्त हो जाता है लेकिन बाजार अपनी पूरी कीमत वसूलता है – चाहे गन्ने की तरह निचोड़ना ही क्यों न पड़े।

इस उपन्यास में सुरक्षा और समृद्धि का सपना संजोये शिक्षित पात्र नील और अल्पशिक्षित पात्र भोला अवसर और समृद्धि के महानगर मुंबई पहुँचते हैं। भोला को अंडरवर्ल्ड पनाह देता है तो नील मिसेज दस्तूर का शोध सहायक बनता है, अंडरवर्ल्ड भोला पर विश्वास बढ़ाता और भोला तरक्की करता जाता है। बार में नाचने वाली शालू के साथ घर बसाता है। उधर सजीला, शालीन, जहीन, नील अधेड़ धनाढ्य महिलाओं के लिए पुरुष-वेश्या बन जाता है। उसका सितारा ऊँचा चढ़ता जाता है। फ्लैट, टेलीफोन, कार, विदेशी प्रसाधन और काम सिर्फ आत्मा को दबाकर देह बेचना। सोमपुरिया सेठ की बेटी पारुल, नील से प्रेमकर गर्भवती हो गयी और नील नैन के प्रेम में पागल। नील, नैन से विवाह की सोचता है तो पारुल घराना उसे कुचल देता है। भोला के जरिये माफिया तक जाता है तो माफिया भी हत्या की सुपारी लेकर नील को मार डालता है। भोला हतप्रभ और सुन्न हो जाता है।

अतः इस उपन्यास के कथा में सफेदपोश और माफिया दोनों हैं जो जिंदादिल मुम्बई गये थे – मुर्दाबन कर रह गये।

चल खुशरो घर आपने

शिवानी के उपन्यास 'चल खुशरो घर आपने' एक शिक्षिता नारी का सेवा, कर्त्तव्य बोध, प्रेम और सामाजिक बंधनों के बीच घिरे हुए जीवन के अंतर्द्वन्द्व की मर्मकथा है। इस उपन्यास की नायिका 'कुमुद' एक शिक्षिता नारी है जिसको पारिवारिक परिस्थितियों ने उसे घर से दूर दूसरे शहर में अकेले सूनसान स्थान पर राजा साहब की विक्षिप्त पत्नी मालती की परिचर्या बनने के लिए विवश किया। कुमुद ने यह निर्णय राजा साहब के एक अखबारी विज्ञापन के आधार पर लिया था किन्तु घटनाचक्र ने उसके जीवन को इस प्रकार परिचालित किया कि वह स्वयं मनोरोग की शिकार हो गयी।

पीली आंधी

'पीली आंधी', प्रभा खेतान का अब तक का अंतिम उपन्यास है। जो अपने विस्तृत और वैविध्यपूर्ण कथाफलक के कारण 'मारवाड़ी' समाज के संघर्ष और पीड़ा का महाकाव्य बन गया है। स्त्री का दुःख पीली आंधी में एक बड़े समाज का दुःख बन गया है। पीली आंधी प्रतीक है, सब कुछ उजड़ जाने का : इस पीली आंधी के बाद कैसे एक छोटा सा अंकुर फूटता है, और वह फलने फूलने लगता है, यही इस उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु है। इस उपन्यास में एक परिवार नहीं बल्कि कुल है, संयुक्त परिवार है। यह राजस्थान के उन लोगों की जीवन कथा है जो प्रकृति की मार और सामंती शोषण की विभीषिका से बचने के लिए 'देसावर' में भटकने के लिए विवश हुए, और अपने परिश्रम तथा बुद्धि से सम्पन्न बनने में सफल हुए।

यह उस समय की कहानी है, जब भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद का तथा जनता सामंती निरंकुशता की शिकार थी, और बनियों का परिवार उनके आतंक से बचने के लिए बार-बार विस्थापित होता

रहता था। यह एक पीली आंधी थी जिसमें 'मारवाड़ी' परिवार पत्तों की तरह बिखर कर नया भाग्य गढ़ने का प्रयत्न करते थे। कठिन परिश्रम, पारिवारिक सहयोग तथा राजनीतिक-सामाजिक टकराहटों से बचते हुए अपने लिए सम्मानपूर्ण जगह बनाना उनफा प्रमुख लक्ष्य था। इस ऐतिहासिक सच्चाई को प्रभा खेतान ने बहुत ही विश्वसनीय और तीन पीढ़ियों की संवेदना से भरी कथा-रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार ने 'मारवाड़ियों' की शानशौकत के पीछे छिपे संघर्ष के साथ-साथ उनके जीवन के अंतर्विरोधों को भी इस कथा में उभरा है।

एक विशेष सामाजिक-वर्ग की कथा है सही, पर यह विस्थापितों की अखिल भारतीय समस्या को अंकित करती है।

दिलो - ।निश

कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यास 'दिलोदानिश' में हिन्दू-मुस्लिम के मिले-जुले सांस्कृतिक परिवेश और उसमें केन्द्रित एक व्यक्ति की उलझी हुई जिन्दगी का, हवेली और फ़राशतखाना के द्वन्द्व का, बहुत ही विश्वसनीय और मार्मिक चित्रण किया है। हवेली और फ़राशतखाना का द्वन्द्व मध्यकालीन सामन्ती मानसिकता से बहुत गहरे रूप से जुड़ा था। हवेली की अपनी संहिता होती थी जिसमें व्यक्ति की निजी भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं था। परिणामस्वरूप मर्द फ़राशतखाने में दिलवस्तगी करते थे और स्त्रियां परम्परागत पारिवारिक संहिता को झेलती हुई कुंठाग्रस्त जीवन जीती थीं। इस प्रकार दिलोदानिश में विवाहेत्तर सन्तान और उसकी स्वीकृति का प्रश्न अपनी सारी जटिलताओं और तीखेपन के साथ विद्यमान है। अवैध सन्तान की समस्या को गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास भी इसमें दिखाई देता है। सम्पत्ति को लेकर पारिवारिक संघर्ष अपने जगह पर होते थे। हवेली की स्त्रियाँ अपनी कुंठित मानसिकता की शिकार होकर परपीड़न में रस लेने लगती थी और फ़राशत खाने वाली औरत रईस के बच्चों की माँ होकर भी उसकी कानूनी पत्नी और हवेली का अंग

नहीं पाती थी।

उपन्यासकार ने इस परिवेश से जुड़ी संवेदनाओं, तकलीफों, उलझन भरी मनःस्थितियों, मनोभावों आदि का बहुत मार्मिक अंकन 'दिलोदानिश' में किया है। हवेली का प्रतिनिधित्व करने वाली 'कुटुम प्यारी' और फ़राशतखाने का प्रतिनिधित्व करने वाली महकबानों तथा पारिवारिक संहिता, पत्नी और प्रेमिका के बीच झूलता कृपा नारायण के चरित्र के माध्यम से उपन्यासकार ने दिल्ली की मूल संस्कृति की पहचान प्रस्तुत की है। यह संस्कृति हजारों वर्षो से हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का परिणाम थी, जो आज लगभग नष्ट होने के कगार पर है।

समय सरगम

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' का विषय महानगर वासी उच्च मध्यवर्गीय वृद्ध व्यक्तियों की जीवन स्थितियों, समस्याओं और संवेदनाओं से सम्बद्ध है। आज संयुक्त परिवार के भीतर और उसके बाहर जी रहे वृद्ध व्यक्तियों की समस्याएं बहुत जटिल हो गयी हैं। जीवन की साँझ में पहुँचकर अपने होने से जुड़ी संवेदनाओं और बूढ़ी आकांक्षाओं को झेलते, मृत्यु की छाया में सांस लेते है। तन-मन के ऊहापोह में झुँझलाते, रोग-बीमारी और चिन्ताओं से परेशान है। रक्तचाप के ऊँचा-नीचा और नब्ज के तेज-धीमा होने को लेकर चिन्तित है। डॉक्टरी नुस्खों और परहेज की बन्दिशों में जीते हैं। यह आज की एक समाजशास्त्रीय समस्या है। साथ ही यह समस्या व्यक्ति की संवेदना से भी जुड़ी है। इस तरह से 'समय सरगम', वृद्ध जीवन का एक संवेदनशील मानस की आँख से देखा हुआ चित्र है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में वृद्ध जनों की त्रासद स्थिति, उसकी अस्थिर मानसिकता, विवशता, अकेलापन, उनके प्रति बहू-बेटों की उदासीनता और क्रूरता, बचा-खुचा भी छिप जाने की आशंका आदि का अंकन गहरी अनुभूति के साथ किया गया है। एकाकी जीवन बिताने वाले दो वृद्ध जनों का, जिनमें एक स्त्री तथा दूसरा पुरुष एक साथ जीवन बिताने का विकल्प बहुत ही विश्वसनीय और मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। भाषा की दृष्टि से कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय-सरगम'

आश्चर्यजनक रूप से बिल्कुल नया है, जिसे तत्सम प्रधान टकसाली हिंदी कहा जा सकता है।

अनित्य

अनित्य की मृदुला गर्ग स्त्री-पुरुष संबंधो की दुनिया से बाहर निकल कर अतीत और वर्तमान के अपेक्षाकृत व्यापक संसार में प्रवेश करती हैं। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय लगभग 1930 से 1960 की भारतीय राजनीति है। इस उपन्यास में उपन्यासकार की सहानुभूति हिंसात्मक क्रान्ति के पक्ष में है, जो भारत में नहीं हुई। उनके अनुसार यही आजादी के बाद भारत के पिछड़ेपन और आर्थिक वैषम्य का करण है। भारतीय राजनीति में साम्यवादी और क्रान्तिकारी दलों की असफलता का मुख्य कारण यह था कि वे जन समुदाय से कटे हुए थे। बुजुर्वा वर्ग से जुड़े होकर भी गांधी जी जनता को अपने साथ ले चलने में सफल हुए थे। आजादी मिलने के बाद सत्ता बुजुर्वा वर्ग के हाथ में चली गयी और साम्यवादी दल, अपनी संकीर्ण दृष्टि के कारण, जनता को विरोधी शक्ति के रूप में बदलने में असमर्थ रहा। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र 'अविजित' अपने चरित्र के अन्तर्विरोधों और मानसिक द्वन्द्व का शिकार है। उसकी त्रासदी को 'अनित्य' में उपन्यासकार ने सफलतापूर्वक चित्रित किया है।

कठ् लाब

कठगुलाब में मृदुला गर्ग ने आधुनिक नारी चेतना को विभिन्न अवलोकन बिन्दुओं से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ पहुँचकर उनका नारी विषयक चिन्तन और संवेदना अधिक प्रौढ़ होती प्रतीत होती है। स्त्री चाहे भारत की हो या अमेरिका की, उच्च वर्ग की, मध्य वर्ग की या निम्न वर्ग की हो, पुरुष द्वारा श्रम और देह-शोषण उसकी नियति है। फिर नारी की मुक्ति की सही दिशा क्या है? यह प्रश्न आज की समस्त महिला लेखकों के सामने हैं। क्या यह मुक्ति उग्र नारीवाद में है जहाँ स्त्री, पुरुष को नर-सूअर के रूप में देखती है या नारी के उस स्वाभिमान और स्वावलम्बन के मार्ग में जहाँ वह आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अपने पैरों पर पूरी तरह से खड़ी रहकर भी अपना संतुलन नहीं खोती और उन मूल्यों की रक्षा करती है जो मनुष्य मात्र को सहज जीवन प्रदान करते हैं। लेखिका कदाचित

दूसरे विकल्प की ओर झुकी हुई है।

शिल्प और भाषा की दृष्टि से कठगुलाब, मृदुला गर्ग के प्रथम दशक के उपन्यासों की तुलना में उच्चतर सोपान पर अवस्थित है। विभिन्न पात्रों के अवलोकन-बिन्दुओं से कथा प्रस्तुत करने का प्रयोग बिल्कुल नया तो नहीं है, पर उसे प्रभावी बनाने में लेखिका को थोड़ी-बहुत सफलता मिली है। इस उपन्यास से प्रमाणित होता है कि उपन्यासकार के पास अनुभव और संवेदना को व्यक्त करने वाली समर्थ भाषा है।

एक जमीन अपनी

चित्रा मुद्‌गल के उपन्यास 'एक जमीन अपनी' का केन्द्रीय समस्या बम्बई के महानगरीय परिवेश में विज्ञापन-जगत् के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, तिकड़म, देह-व्यापार आदि के बीच प्रस्तुत 'नारी-विमर्श' है। इस परिवेश में स्त्री चाहे कितनी भी योग्य हो, उसे योग्य वस्तु के रूप में ही देखा जाता है। पत्नी और प्रेमिका के रूप में आधुनिक स्त्री की स्थिति कितनी त्रासद है इसका अंकन चित्रा मुद्‌गल ने गहरी संवेदनशीलता के साथ किया है। स्त्री के अधिकारों के प्रति सजग एक पात्र कहती है कि "पुरुष से स्वतन्त्र होना है तो पहले उन्हें सिन्दूर पोछना होगा। बिछुए त्यागने होंगे ! दासीत्व के प्रतीक चिन्ह !"[1] वही पात्र अन्यत्र कहती है। ".... मैं पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती हूँ। ..... पत्नी शब्द में मुझे दासीत्व की बू आती है ..... इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है।"[2] एक अन्य स्थान पर यही पात्र कहती है कि – "...... औरत बोनसाई का पौधा नहीं जब जी चाहा उसकी जड़े काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया।"[3] इन उद्धहरणों से उपन्यासकार का नारी-

---

1. चित्रा मुद्‌गल – एक जमीन अपनी, (पृ० सं०- 95) सं०-1990

2. चित्रा मुदग्ल – एक जमीन अपनी, (पृ० सं०- 161) सं०- 1990

3. चित्रा मुद्‌गल – एक जमीन अपनी, (पृ० सं०- 177) सं०- 1990

नियति के प्रति असन्तोष स्पष्ट है। फिर भी वह नारीवाद के उग्र रूप की समर्थक नहीं हैं। वह 'घर' को तोड़ने और स्त्री-पुरुष के प्रतिद्वन्द्वी रूप की समर्थक भी नहीं है।

इस उपन्यास की भाषा कथ्य के अनुरूप साफ-सुथरी और सर्जनात्मक है, पर फिल्मी ढंग की भावुकता और कथा-योजना इसके प्रभाव को कम करती है।

आवाँ

चित्रा मुद्‌गल के उपन्यास 'आवाँ' का केन्द्रीय विषय एक नौजवान लड़की 'नमिता' का जीवन संघर्ष है जो एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्म लेती है, बढ़ती है और महानगर के जलते हुए परिवेश में तपकर अपने को संघर्ष के लिए तैयार करती है। नमिता का एक संघर्ष पुरुष के साथ उसके देह संबंध को लेकर भी है। बचपन में वह अपने सगे मौसा के बलात्कार की शिकार होती है। युवा होने पर मजदूर संघ का प्रतिष्ठित नेता 'अन्ना साहब', उसकी इच्छा के विरुद्ध रति-सम्बन्ध स्थापित करता है। कुछ दिनों के बाद वह एक करोड़पति आभूषण-निर्माता के सम्पर्क में आने पर अनचाहा गर्भ धारण करती है। इन सबकी परिणति उसके अपने पैरों पर खड़े होने के संकल्प में होती है। इसके साथ ही उपन्यास में पृष्ठभूमि के रूप में 'कामगार अधाड़ी' मजदूर संघों के कार्यकलापों, उनके पूँजीपतियों और उद्योगपतियों से मजदूरों के अधिकार दिलाने के संघर्षों तथा उनकी आन्तरिक राजनीति, उठापटक आदि का चित्रण किया गया है।

चित्रा मुद्‌गल ने इस परिवेश में उभरती नारी-शक्ति को ममता, गौतमी और स्मिता जैसे पात्रों के माध्यम से नारीवादी साहसी स्त्रियों का अंकन किया है, जो परम्परागत नारी संहिता को जड़ से ठुकराते हुए स्वतंत्र ज़िन्दगी जीती है।

इस उपन्यास में एक मजदूर नेता के पारिवारिक जीवन का चित्रण भी किया गया है, जिसकी पत्नी पुरानी रूढ़ियों से जकड़ी, कुटिल, खल तथा स्वार्थी स्त्री है।

सोनामाटी

विवेकी राय के उपन्यास 'सोनामाटी' में करइल की लहलहती फसलो के सौन्दर्य, वहाँ की माटी की चिपकने की विशेषता और सोना उगलने की क्षमता, बाढ़ के सर्वभक्षी स्वभाव आदि का सजीव वर्णन किया गया है। इसके साथ ही उपन्यासकार ने वहाँ के जीवन में घुलेमिले संस्कारो, समारोहों, पर्व-त्योहारो, गीतो के माध्यम से व्यक्त होने वाली अनुभूतियो, लोक-परम्पराओं और मूल्यों की बहुमूल्य सम्पदा को गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार ने ग्रामीण जीवन में पैदा हुए समकालीन मूल्य संकट का चित्रण भी तन्मयता से किया है।

पूर्वांचल के बहुसंख्यक लोगों की जिन्दगी की नग्न सच्चाई यह है कि वहाँ आर्थिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए, गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले, निरक्षरता और अज्ञान के अंधकार में डूबे, पुराने मूल्यों और विश्वासों से जकड़े हुए ग्रामीण हैं। यह वह क्षेत्र है जहाँ भूमिपतियों द्वारा छोटे किसानों और कृषक मजदूरों का अमानवीय शोषण होता है। ग्रामीण विकास के नाम पर की जाने वाली सरकारी योजनाएं साधन सम्पन्न भूमिपतियों, ठेकेदारों, इंजिनियरों और राजनीतिक व्यवसायियों की तिजोरी भरने में चुक जाती है। शिक्षण संस्थाएं शिक्षा के नाम पर माखौल बन चुकी हैं और चुनाव के क्षेत्र में लोकतंत्र का विकृत चेहरा ही सामने आता है। वस्तुतः यह सबकुछ मूल्य-संकट का ही परिणाम है, जो समस्त जीवन में छाया हुआ है। सोनामाटी का केन्द्रीय पात्र रामरूप बड़े आश्चर्य से देखता है कि भूमिपति सामन्त, भ्रष्ट नौकरशाह, अधिकार लोलुप नेता, मूल्यहीन नई पीढ़ी और अवसरवादी बुद्धिजीवी सभी असहाय धन के शोषण में सहभागी हैं। यहाँ तक कि 'खोरा' जैसा जनकवि भी अंततः बिक जाता है या शोषक वर्ग की चालाकी का शिकार हो जाता है।

समर शेष है

विवेकी राय का उपन्यास 'समर शेष है' एक विक्षोभकारी विजन पर आधारित उपन्यास है। इस

विजन के केन्द्र में पूर्वांचल के किसान-मजदूर हैं, जो लम्बे समय तक शोषण और अन्याय सहते रहने के बाद अब संघर्ष की मुद्रा में तनकर खड़े हो रहे हैं। मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी क्रांतिकारियों के नेतृत्व में इन्होंने भूमिपतियों तथा शोषण और अन्याय पर आधारित व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया है। इस उपन्यास की सबसे आकर्षक विशेषता यह है कि उसके विजन के केन्द्र में गाँव की एक कच्ची सड़क है जो किसी अर्थ में उपन्यास की नायिका भी है। यह सडक पूर्वांचल के पिछड़ेपन की प्रतीक है। उपन्यास के कुछ प्रमुख पात्र जैसे संतोष पंडित, जयन्ती, सुराज, रामराज आदि अपने सजीव व्यक्तित्व के साथ-साथ प्रतीकात्मकता का संकेत भी देते चलते हैं। 1947 में भारत को 'स्वराज' मिला पर 'सुराज' नहीं मिला। 'सुराज' मिला भूमिपतियों और पूँजीपतियों को, नेताओं और उनके चमचों को, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों को, ठेकेदारों और इंजीनियरों को, सरकारी पदाधिकारियों और उनके परिवारों को। यह 'सुराज' शहरों तक सीमित रह गया, गाँव की जनता तक नहीं पहुँच पाया; क्योंकि शहर को गाँव से जोड़ने वाली सड़क नहीं बनी। इस सुराज को कैद कर लिया गांव के कुछ भूमिपतियों ने, जो सत्ता और राजनीति से जुड़कर पहले से ही अधिक शक्तिशाली बन गये। जनता गरीबी, अशिक्षा और हर तरह के पिछड़ेपन की शिकार अपनी विवशताओं में कैद रह गयी। उसका रामराज कहीं हिरा गया, भटक गया, पंगु बन गया पर यह जनता अब जग रही है। 'सुराज' और रामराज जनता तक पहुँचने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। किसान जग गया है और संघर्ष के रास्ते पर चल पड़ा है। सदियों की दलित नारी विद्रोह का घोषणा कर चुकी है। ग्रामीण मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी जग गया है समर शेष है के विजन का सबसे मुख्य पक्ष संघर्ष है। यह जन संघर्ष जगरता गाँव से आरम्भ होकर 'जनता आश्रम' तक पहुँचता है। जगरता गाँव के ग्रामीण अपने गाँव में सड़क न पहुँचने के विरोध में मतदान का सामूहिक बहिष्कार करते हैं। इसी विरोध में से एक नेतृत्व भी उभरता है। आकस्मिक उत्तेजना से पैदा हुआ यह विद्रोह धीरे-धीरे एक क्रान्ति योजना का रूप ग्रहण कर लेता है। इसका पहला चरण है गाँव की असलियत को जानना। इसी जानने के क्रम में ही सुराज का पहला

टकराव भूमिपति समरेश बहादुर से होता है जो अन्ततः जनता और सत्ता का संघर्ष हो जाता है इस संघर्ष में सुराज की प्रेमिका और वाग्दत्ता जयन्ती भी शामिल हो जाती है। एक तरफ कई गॉवो के भूमिपति, ग्राम प्रमुख, ब्लाक प्रमुख इण्टर कालेज के मैनेजर-प्रिंसिपल और उनसे जुड़ा हुआ सरकारी तंत्र है तो दूसरी तरफ जयन्ती, रामराज, सन्तोषी मास्टर, सुराज, किसान जानकी नाथ और इनसे जुड़े असंख्य किसान और मजदूर हैं। सुराज बुद्धिजीवियों के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है और सत्ता द्वारा बिछाये गये जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है। अतः धीरे-धीरे यह संघर्ष व्यापक रूप ले लेता है। इस प्रकार विवेकीराय का यह उपन्यास आज की मूल्यविहीन, दिग्भ्रमित, हिंसक पीढ़ी का चित्र प्रस्तुत करता है जो अपने आचरणों से अराजकता की स्थिति पैदा किये हुए हैं।

गोपुली ग़फ़ूरन

गोपुली ग़फूरन में गोपुली के रूप में शैलेश मटियानी ने स्त्री का जो रूप प्रस्तुत किया है वह महिला उपन्यासकारों के लिए भी एक चुनौती है। स्त्री की अदम्य जिजीविषा, आत्मविश्वास, संघर्ष की अद्‌भुत क्षमता की प्रतीक है गोपुली – वह नारी की कमजोरी की भी प्रतीक है और उसकी दृढ़ता, सहनशक्ति और ममता की भी नारी की कमजोरी यह है कि वह पुरुष के सामने अपना आत्मसमर्पण कर देती है, वह अपने गर्भ पर अभिमान नहीं कर पाती। परम्परागत नारी संहिता के विरुद्ध गर्भधारण उसके लिए अभिशाप बन जाता है। पुरुष समाज द्वारा थोपे गये नियमों से वह लड़ नहीं पाती। गोपुली अपने जुझारू और आत्मविश्वास से भरे चरित्र के बावजूद प्रमुख समाज द्वारा प्रवंचित होती है; पर वह हार कभी नहीं मानती। दलित समाज की स्त्री होने पर भी गोपुली के चरित्र में जो तेजस्विता है, वह अनूठी है। उसमें कोई कुंठा नहीं है। पराजय का भाव नहीं है। वह न डरती है, न हारती और न ही खरीदी-बेची जा सकती है। उसकी ऊपर से दिखाई देने वाली हार में भी जीत है। उसके चरित्र में एक आदिम नारी और माँ का रूप पूरी तरह से विद्यमान है। वह अपने अनुभवों से औरत होने का अर्थ जानती है। इस प्रकार संवेदनात्मकता की तीव्रता और सर्जनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से मटियानी

का यह उपन्यास एक उच्च श्रेणी का उपन्यास है। स्त्री-विमर्श में इसका महत्वपूर्ण योगदान है।

बावन नदियों का संगम

शैलेश मटियानी के उपन्यास 'बावन नदियों का संगम' वेश्या जीवन की जबरदस्त कहानी है। इसमें देह व्यापार करने वाली वेश्याएँ, धन्धा चलाने वाली वेश्याएँ और इस धन्धे के दलाल शामिल हैं। उपन्यासकार ने वेश्याओं और उनके दलाओं की त्रासद जिंदगी का मार्मिक चित्रण किया है। पतित माने जाने वाले समाज का नग्न और कटु चित्रण तो है ही, साथ ही 'शरीफ' कहे जाने वाले समाज की वेश्यागीरी का भी चित्रण हुआ है। इस 'भद्रलोक' में नामी वकील, सम्भ्रान्त नेता, मिनिस्टर, फर्जी संस्थाओं के छुटभैये नेता, कम्युनिस्ट तथा कांग्रेसी हैं। इस माहौल में चकला चलाने वाली गुलाबीबाई और पत्रकार शशिकान्त सड़ाँध भरे माहौल में ताजे गुलाब की फूल की तरह एवं अँधेरे में रोशनी की लकीर की तरह प्रतीत होते हैं।

उपन्यास का केन्द्रीय कथ्य है वेश्याओं में भी मनुष्य का जीवन जीने की ललक और इसके लिए संघर्ष करने की क्षमता। स्त्री, चाहे सेक्स वर्कर ही क्यों न हो, भोग की वस्तु नहीं है। वह इसके खिलाफ लड़ भी नहीं सकती है। उपन्यास में इसी विद्रोही चेतना को उपन्यासकार ने उद्घाटित करने का प्रयास किया है। भोग्या होने और अस्मिता सुरक्षित रखने के नारी के नये आयामों का तलाश है यह उपन्यास।

अग्निगर्भा

अमृतलाल नागर के उपन्यास अग्निगर्भा का केन्द्रीय समस्या समाज में व्याप्त दहेज की समस्या है। आज समाज में दहेज की समस्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। गाँव और शहर सभी जगहों पर दहेज के लिए समाज में कितनी ही बहुएँ मौत के घाट उतार दी जाती हैं या ऊबकर वे स्वयं आत्महत्या कर ले रही हैं। इन्हीं समस्याओं को नागर जी ने शिक्षित समाज के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

भारतीय नारी सदियों से ही पुरुषों के अत्याचार, यातनाओं को सहती आ रही है। नारी को "आदमी की कामुक, स्वार्थी और घिनौनी इच्छायें 'अग्निगर्भा' बना डालती है जो जीवन पर्यन्त धैर्यशील बसुन्धरा की तरह, अपने भीतर विखंडित होने वाली ज्वालाओं को निरन्तर समेटती रहती है। वह जीवन भर अपनी अक्षय सम्पदा लुटाकर भी आदमी की तृषा को नहीं बुझा पाती और रक्त की अंतिम बूंद चूसकर भी वह प्यासा बना रहता है।"[1]

आधुनिक युग में रिश्तों का आधार धन है। धन के अभाव में बने हुए रिश्ते भी बिगड़ जाते हैं। सीता एक मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है जिसे अपने पिता के घर में घुटन होती है, ऐसी स्थिति में सीता को किसी आश्रय और सहारे की जरूरत पड़ती है। उसे अपने दूर के सम्बन्धीं रामेश्वर शुक्ल से सहारा मिलता है। रामेश्वर अर्थ का लोभी है। उसे सीता के अंदर दहेज की सम्भावनाएं दिखाई देती है। दोनों माता-पिता की इच्छा के विपरीत विवाह कर लेते हैं। वह सीता का आर्थिक रूप से शोषण करता है। गरीब माता-पिता का अपमान करता है। सीता के जीवन में कटुता आती चली जाती है। सीता की कमाई को वह दहेज की सामग्री मानता है। सीता के विरोध से उसे बेटे से भी अलग कर देता है। उसे परिवार द्वारा बार-बार अपमानित किया जाता है।

यह अपमान सीता के अंदर छिपे विद्रोह को जगा देता है। सीता दहेज लोभी के विरुद्ध पुलिस को खबर देती है। किन्तु उस परिवार का एक व्यक्ति उसे अपनी गोली का शिकार बनाता है जिससे सीता की मृत्यु हो जाती है। इस मुख्य कथा के साथ-साथ नागर जी ने तत्कालीन समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों का भी पर्दाफाश किया है। नागर जी सामाजिक समस्या पर आधारित इस उपन्यास में स्त्री विद्रोह के लिए खड़ा करते हैं। यही इसकी विशिष्टता है।

---

1. अमृतलाल नागर – अग्निगर्भा – आवरण सामग्री, राजपाल एण्ड संस प्रकाशन दिल्ली

खंजन नयन

अमृत लाल नागर के उपन्यास 'खंजन नयन' उनके स्वयं के उपन्यास 'मानस के हंस' की ही परम्परा का महाकवि 'सूरदास' के जीवन पर आधारित उपन्यास है। सूरदास के 'भक्त' और कवि व्यक्तित्व को उभारना ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। विपरीत परिस्थितियों में भी जन्मांध बालक सूर संघर्ष करता है। यह संघर्ष सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक-मनोवैज्ञानिक स्तर पर उसके जीवन पर्यन्त चलता रहता है जिसकी ऑच मे तपकर सूर परमभक्त कवि सूरदास बनता है। सूरदास के व्यक्ति-निर्माण के क्रम में नागर जी ने तत्कालीन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का भी सजगता के साथ अंकन किया है। यद्यपि सर्जनात्मक दृष्टि से ये उपन्यास 'मानस के हंस' की ऊँचाई तो नहीं प्राप्त कर सका परन्तु इसमें उपन्यासकार की औपन्यासिक प्रतिभा की चमक अवश्य दिखाई पड़ती है।

बिखरे तिनके

अमृतलाल नागर का उपन्यास 'बिखरे तिनके' आधुनिक समाज तथा भारतीय राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा उसके प्रभाव पर आधारित है। इस उपन्यास में आज के समाज की छात्र शक्ति और नेताओं द्वारा उनके दुरुपयोग की कथा है। इसकी शुरुआत नगरपालिका के हेल्थ ऑफिसर के पी०ए० गुरूसरन बाबू की कथा से होता है जो भ्रष्टाचार की साक्षातमूर्ति हैं। हेल्थ ऑफिसर डॉ० गोयल जैसे लोग अंग्रेजी मानसिकता की गुलामशाही के प्रतीक स्वरूप हैं जो खुलेयाम व्यभिचार और भाई-भतीजावाद फैलाये हुए हैं। उनकी मूल्यहीनता और विलास चर्चा का कोई अन्त नहीं है। दूसरी कथा नेताओं की है जो कल तक राजा और बड़े जमींदार थे। कभी वे ताकत के बल पर राज करते थे और आज वोट के बल पर। नेताओं के प्रतिनिधि पात्र हैं – कुँवर राठौर उर्फ बबलू सुहागी और सुरसतिया जैसे निचले तबके के भी पात्र हैं जो अपनी जिन्दगी अपने ढंग से जीने के लिए भी स्वतंत्र

नहीं है। उनकी नियति की डोरी हमेशा दूसरों के हाथ है। इस उपन्यास का नायक सतसाई प्रसाद उर्फ बिल्लू है जो छात्रों का नेता है। बिल्लू के माध्यम से उपन्यासकार भ्रष्ट लोगों के विरुद्ध आन्दोलन करवाता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने व्यंग्य के माध्यम से आज की राजनीति पर कठोर प्रहार किया है।

करवट

अमृतलाल नागर के उपन्यास करवट का मुख्य क्षेत्र लखनऊ है। काल की दृष्टि से 1805 – 1905 तक की अवधि का इतिहास है। 'करवट' की कथा एक खत्री परिवार की तीन पीढ़ियों से– लाला मुसद्दीलाल, उनके पुत्र वंशीधर टंडन और पौत्र देश दीपक टंडन से सम्बद्ध है।

उपन्यासकार ने इसमें राजनीतिक घटनाओं को अधिक महत्व नहीं दिया है। यहाँ तक कि 1857 की क्रांति जैसी घटना की सूचना मात्र दी गयी है। वस्तुतः उपन्यासकार का उद्देश्य 1805-1905 की अवधि में हुए राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और नैतिक मूल्यों के परिवर्तन का इतिहास प्रस्तुत करना है। अंग्रेजों के आगमन से भारतीय सामाजिक संरचना, रहन–सहन के ढंग और सोच में आये बदलाव का चित्रण उपन्यासकार ने बहुत सूक्ष्मतापूर्वक किया है।

नागर जी ने इस उपन्यास में उत्तर भारत में अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार, धार्मिक–सामाजिक आन्दोलन, मध्य वर्ग के सामाजिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तन का चित्र प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही भारतीय मध्यवर्ग पहले तो अंग्रेजों का स्वागत करता है उसे आर्थिक उन्नति का साधन बनाता है, परन्तु जल्द ही अंग्रेजी शासन के प्रति उनका मोहभंग भी आरम्भ हो जाता है। इसीलिए उपन्यास का मुख्य पात्र वंशीधर टण्डन तक को ब्रिटिश शासन से टक्कर लेने की जरूरत महसूस होती है, यद्यपि इस मानसिकता में बदलाव आता है। अतः युवा वर्ग का अंग्रेजों के प्रति आक्रोश खुलकर सामने आता है। कुल मिलाकर देखा जाय तो 'करवट' भारत में सामंती व्यवस्था के अवशेषों पर पनपते ब्रिटिश उपनिवेशवाद के घिनौने चेहरे के उद्घाटन, भारतीय मध्यवर्ग के विकास और नयी चेतना को

सामाजिक बदलाव की प्रेरणा के रूप में स्वीकार करने वाली पुनर्जागरणकालीन मानसिकता का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

अंतिम अरण्य

निर्मल वर्मा के उपन्यास 'अंतिम अरण्य' न सिर्फ उनकी अनूठी शैली, औपन्यासिक संरचना और ऐंद्रिय पकड़ का कुछ स्वाद देते हैं बल्कि उस गहरी आध्यात्मिक व्याकुलता का भी जो कि यह कृति अंततः है। 'अंतिम अरण्य' में कोई असाधारण नायक नहीं है। पर साधारण लोग ही असाधारण परिवेश में फॅसकर अपने को, अपने बीतने और समय को दूसरों की उपस्थिति और अनुपस्थिति में पकड़ने-समझने की कोशिश करते हैं। यह कोशिश किसी सीधी-सादी उम्मीद से परे जा चुकी है उसमें न कोई दैवी सहारे बचे हैं, न ही कोई लौकिक आश्वासन। फिर भी उसका अपना अध्यात्मत जीने की कठिन-जटिल प्रक्रिया से ही उभरता है और जीने में ही जीवन अर्थ से भरता और फिर खाली हो जाता है। यह उपन्यास उस समय का साक्ष्य है जो हमारे जाने-अनजाने सारी ऊपरी उथल-पुथल के बावजूद कहीं हमारे अंदर बीतता रहता है, – एक दस्तावेज जिसमें होना न होने की प्रतीक्षा है, और जिसमें अब उसे कुतरने वाली उम्मीद की दीमकें तक नहीं बची हैं जिसमें होना टिमटिमाता, डबडबाता, खुलता-छुपता और बीत जाता था। इस उपन्यास में मानो एक प्रार्थना है जहाँ होने की पवित्रता को आशा-आकांक्षा दूषित नहीं कर पाती।

कलि-कथा : वाया बाइपास

अलका सरावगी के उपन्यास 'कलि-कथा : वाया बाइपास' सन् 1925 में जन्में, मुख्य पात्र किशोर बाबू की कहानी है, जो एक साथ कई शैलियों में लिखा गया है। इसमें उपन्यासकार अलग-अलग देश-काल में आगे-पीछे चलते पाठकों को ऐसी यात्रा के लिए आमंत्रित किया गया है जिसमें वे चौकने, रास्ते खोने और फिर उसे खोज पाने के आनंद का अनुभव करें!

किशोर बाबू किस तरह से दिल के बाइपास ऑपरेशन के बाद अपने किशोरावस्था की दुनिया में चले जाते हैं; और उन्हीं दिनों की तरह उलझनों से जूझते 'कलकत्ता' शहर में पैदल वर्तुलाकार कालचक्र में चक्कर लगाते हैं जिसमें अतीत, वर्तमान, और भविष्य के बीच कोई विभाजन नहीं है। वह अनायास किशोरबाबू को अपने पुरखों की दुनिया में ले जाता है जो जन्म-भूमि से दूर हो गयी एक जाति 'मारवाड़ी' और एक शहर 'कलकत्ता' की साझी औपन्यासिक कथा रचता है। किशोर बाबू की एक जिंदगी में तीन जिंदगियाँ जी गई हैं। पहली अपने स्कूल के मित्रो के साथ गुजारे गये दिन जिसमें 43 का बंगाल का अकाल, 46की द ग्रेट कैलकटा किलिंग और 47 का विभाजन शामिल हैं। दूसरी जिंदगी उसके बाद के पचास सालों की है। तथा तीसरी जिंदगी बाइपास ऑपरेशन के बाद उस वर्तमान से शुरू होती है; जो अभी हर वक्त हमारे आस-पास उपस्थित है।

'बाइपास' उपन्यास का बीज शब्द है, और ये उस ओर इंगित करता है कि आज के युगधर्म की मूल समस्याओं से बचकर बगल से किस प्रकार सुविधाजनक रास्ते निकाले जायँ। उपन्यासकार इस युगधर्म की विडम्बना को किशोर बाबू के बाइपास आपरेशन के माध्यम से उजागर करता है जो अन्ततः उन्हें उन्हीं चीजों की ओर ले जाता हैं जिन्हें उन्होंने अब तक बाइपास करा रखा था।

निन्याने

रवीन्द्र वर्मा के उपन्यास 'निन्यानबे' राष्ट्रीय विघटन का एक रूपक है। यह स्वातंत्र्योत्तर समाज की क्रमिक टूटन को एक परिवार की कहानी के माध्यम से रूपायित करता है। इसका काल 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंस तक है। परिवार का एक पुरखा 1857 के संग्राम में अपने पिता और परिवार को खोकर झाँसी के बाहर जंगल में घास खाता है और अगली सदी के अंतिम दशक में उसी प्रकार का एक पुत्र अपने शहर में नेता और ठेकेदार बनाता है, और अपने पुश्तैनी घर को बेचने की योजना भी बनाता है ताकि उसके निन्यानबे लाख एक करोड़ हो जाएँ। उसे

विधवा माँ की चिंता नहीं है।

यह आत्म-केन्द्रित मध्यवर्गीय उपभोक्तावाद पर भी एक तीखी टिप्पणी है।

यह एक स्वप्न से दुःस्वप्न में बदल जाने की कथा है। यह उपन्यास इस सदी में हमारी स्वातंत्र्योत्तर त्रासदी का आभ्यन्तरीकरण है।

कुरु-कुरु स्वाहा

मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास 'कुरु-कुरु स्वाहा' की पृष्ठभूमि बम्बई के महानगरीय जीवन से जुड़ा हुआ है,जहॉ सिनेमा, अपराध तथा सेक्स के अलग-अलग ससार हैं – विसंगतियों अनिश्चितताओं, नैतिक मूल्यों तथा वहाँ के रहन-सहन, भागदौड़, रहस्यमयता, देहव्यापार, षड्यन्त्र आदि की प्रस्तुति ही उपन्यास का विषय है।

इस उपन्यास में कथ्य से ज्यादा महत्वपूर्ण उसका शिल्प है। उपन्यासकार स्वयं इसे 'दृश्य और संवाद प्रधान गप्प वायस्कोप' कहा है। इस उपन्यास के शिल्प की एक और उल्लेखनीय बात यह है कि एक ही नायक तीन स्तरों पर चलता है। पहला बुद्धिवादी जोशी, दूसरा किशोर मानसिकता वाला मनोहर तथा तीसरा तटस्थ नरेटर। वह पात्र जिसका जिक्र इसमें मनोहर श्याम जोशी संज्ञा और 'मैं' सर्वनाम से किया गया है वह सबसे अधिक कल्पित है। इस कथन से यह तथ्य सामने आता है कि यहाँ एक नयेपन का आभास देते हुए कथाकार या 'नरेटर' को नाटकीकृत करने का गुर अपनाया गया है।

अतः इस उपन्यास में उपन्यासकार ने बम्बई के अपराध जगत में कार्ल-गर्ल और उनके साहसिक कृत्य तथा फिल्म वालों की झुठी-सच्ची घटनाएं मुख्य रूप से सम्मिलित किया है जो हमारे पतनशील समाज का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करती है।

हमजाद

मनोहर श्याम जोशी का उपन्यास 'हमजाद' एक भिन्न कोटि का है। यह उपन्यास वैश्विक स्तर पर बढ़ते बाजारवाद की मनोवृत्ति की उपज है। यह बाजारवाद स्त्री-पुरुष, धर्म, परम्परा, संस्कृति, मूल्य, सब कुछ को 'वस्तु' का रूप देने की ओर अग्रसर है। हमजाद में बाजारवाद की इस प्रवृत्ति में आकंठ निमग्न एक छोटे से समाज का अंकन किया गया है, जो अपने देह-सुख के लिए सारे नैतिक मूल्यों को नकारता हुआ कमीनी से कमीनी हरकते करता है। आदमी इतना नीचे गिर सकता है, नैतिक मूल्य इस हद तक नकारे जा सकते हैं, कल्पना करना भी अभी मुश्किल मालूम होता है। इस उपन्यास में हैवानियत अपनी चरम सीमा पर है, स्त्री-पुरुष शुद्ध मादा-नर के रूप में है; धोखाधड़ी, हेराफेरी, लूटपाट, अपहरण, बलात्कार, अनियन्त्रित सेक्स का अपने पूरे नंगेपन में चित्रण हुआ है। उपन्यास का एक पात्र कहता है – "इस अफसाना में यहाँ से वहॉ तक गन्दगी ही गन्दगी है।" यह बात बिल्कुल सच है। इस उपन्यास को कमीनगी और हैवानियत का दस्तावेज कहा जा सकता है।

उपन्यास का केन्द्रीय पात्र स्वीकार करता है – "यह अफसाना दो कौड़ी का भी नहीं है।" यह बात पूरे उपन्यास पर भी लागू होती है।

अपने-अपने कोणार्क

चन्द्रकान्ता का उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' की पृष्ठभूमि कश्मीर से उड़ीसा का सफर है। उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में केन्द्रीय पात्र 'कुनी' के रूप में एक ऐसी स्त्री की नियति का चित्रण किया है, जो पढ़ी-लिखी आर्थिक रूप से स्वावलम्बी होते हुए भी पारिवारिक मर्यादा से रूढ़ मूल्यों, तिलक-दहेज की बाधाओं, परिवार के प्रति स्वयं ओढ़ी जिम्मेदारियों आदि के कारण लगभग 32 वर्ष की उम्र तक एकाकीपन और अनिर्णय की मानसिकता में जी रही है। उपन्यासकार के लिए 'पुरी और कोणार्क – जीवन के दो पहलू ! अर्कक्षेत्र और श्री क्षेत्र के भिन्न रंग ! संपूर्ण जीवन का

फलसफा यहाँ मौजूद है। उसे ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिदृश्य के साथ वर्तमान की सच्चाइयों के साथ जोड़कर देखा, तो अपने-अपने कोणार्क बन गया।"[1] कोणार्क की यात्रा में पात्र सिद्धार्थ के साहचर्य से 'कुनी' के मन की गुथियाँ सुलझती हैं और उसे अपने स्त्री तथा एकाकी होने का एहसास होता है, पर अप्रत्याशित परिस्थितियों के कारण यह सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। अन्ततः वह डॉ० अनिरुद्ध को अपने जीवन-साथी के रूप में स्वीकार कर अपने जीवन को सार्थकता प्रदान करती है।

शहर में कर्फ्यू

विभूतिनारायण राय का उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू' की केन्द्रीय समस्या हिन्दू फासिज्म और मुस्लिम कट्टरपंथियों के बीच साम्प्रदायिकता है। इसकी शुरुआत इलाहाबाद शहर के खुल्दाबाद और बहादुरगंज मुहल्लों के एक मंदिर पर कुछ अराजक तत्वों द्वारा फेका गया बम कम पटाखे से होता है। चूँकि बम मंदिर की दीवाल पर फटा था इसलिए स्वाभाविक था कि हिन्दूवादी इसे मुस्लिम की करतूति माने। जिसकी परिणति हिन्दुओं द्वारा मुस्लिमों पर प्रहार से होती है। इन दोनों के टकराव के मध्य पुलिस प्रशासन द्वारा कर्फ्यू लगाने से शहर का एक हिस्सा पाकिस्तान बन गया तथा शहरके दूसरे हिस्से के हिन्दूवादियों के नजर में उसमें रहने वाले पाकिस्तानी। शहर के इस कर्फ्यू ने प्रतिदिन कमाओ खाओ वाली जिंदगी तथा देह-व्यापार करके जीवन यापन करने वाली वेश्याओं को धीरे-धीरे फाके के करीब पहुँचा दिया।

उपन्यास की नायिका सईदा के लिए ये कर्फ्यू उसके जीवन की पहली घटना तथा उसके लिए खौपनाक अनुभव था, परन्तु पड़ोसन सैफुन्नीसा के लिए नया नहीं था। गाँव से शहर आयी सईदा के लिए एक छोटे से कमरे में जीवन गुजारना उसके लिए मुख्यतः दो दिक्कतें पैदा कर रही थी। पहले यह कि बिटिया की बिमारी तथा दूसरा संडास की। सईदा जिस परिवेश से शहर आयी थी वहाँ इस तरह की दिक्कतों की कल्पना भी उसके लिए हास्यास्पद थी।

---

1. चंद्रकांता – अपने-अपने कोणार्क – पृ०सं०-क (शुरुआत से पहले) राजकमल प्रकाशन (प्र०सं०-1995)

उपन्यासकार ने इस उपन्यास में एक ऐसी लडकी के रोमांश का चित्र प्रस्तुत किया है जिसका नाम, पता, जाति, धर्म, कुछ भी नहीं पता। कर्फ्यू के कारण इस लड़की का एक बन्द कमरे में बलात्कार होता है जो आज के पुरुष प्रधान समाज में कमीनी तथा हैवानियत का चिट्ठा प्रस्तुत करता है उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में भूख, और गरीबी के कारण एक मॉ की गोद में बच्चे की मृत्यु तथा क़फन का अभाव आदि एवं साम्प्रदायिकता से उत्पन्न लाचारी, निराशा, हताशा, अव्यवहारिकता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह उपन्यास यथार्थ की जटिलताओं के बीच में ऐसे बिन्दु पर छोड़ देता है जहाँ दया और करुणा नहीं उत्पन्न होती वरन् इस बात की प्रतीति होती है कि जड़ता, नपुंसकता तथा अलगाव पैदा करने वाली व्यवस्था आज भी समाज में बरकरार है, जो लोगों को नफरत सिखाती है और एक दूसरे से लड़ाती है। यह उपन्यास इसी व्यवस्था को जिसमें दोनों कौमों के टकराव के मध्य पुलिस, प्रशासन, पत्रकारिता तथा राजनीति की भूमिका को बेनकाब करता है।

कोरे कागज़

अमृता प्रीतम के उपन्यास 'कोरे कागज़' एक युवा-मन की कातरता, एक युवा-मन की बेचैनी है। इस उपन्यास में युवा-मन का संचालन करने वाला चौबीस वर्षीय पंकज को जब यह पता चलता है कि उसकी माँ उसकी असली माँ नहीं थी, तब अपनी असली माँ और असली बाप को जानने-पहचानने की तड़प उसे दीवानगी की हदों तक ले जाती है। उसकी अपनी पहचान जैसे खुद उसके लिए अजनबी बन जाती है। कुँवारी मां का नाजायज बेटा – उसके और उसके बाप के बीच एक ही रिश्ता तो कायम रह सकता था – कोरे कागजों का रिश्ता।

यह उपन्यास सामाजिक विसंगति में युवा-मन की विद्रूपभरी स्थिति का आमना-सामना करता है। आधुनिकता में नैतिकता की उधेड़बुन अभी भी क़ायम है। रिश्तों की पहचान – वह भी माँ जैसे आधारभूत रिश्ते की – कई सामाजिक गुत्थियों तक फैल जाती है। सामाजिक और निजी अस्मिता के सवाल उठने लगते हैं।

कुन्तो

भीष्म साहनी के उपन्यास 'कुन्तो' का केन्द्रीय पात्र कुन्तो है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में कुन्तो के चरित्र के द्वारा नारी नियति को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में स्त्री को पति की परस्त्रीगामिता झेलने के लिए विवश होना पड़ता है। अशिक्षा और अज्ञान, परम्परागत नारी संहिता को स्वीकार करने की विवशता और आर्थिक परतंत्रता के कारण परनिर्भरता उसकी नियति में शामिल है। यद्यपि लेखक ने इस उपन्यास मे कुन्तों के माध्यम से स्त्री की आत्मसजगता और आत्मनिर्भरता को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

बसन्ती

भीष्म साहनी के उपन्यास 'बसन्ती' की पृष्ठभूमि महानगर दिल्ली में लगातार बनने वाली कॉलोनियों या विहारों तथा उसके समानान्तर सरकारी ज़मीन पर अनधिकारिक रूप से मजदूरों, बढ़इयों, धोबियों आदि की झुग्गी-झोपड़ी वाली गन्दी बस्तियाँ हैं। इन बस्तियों में दिल्ली के निकट और दूर के राज्यों से जीविका की तलाश में आये लोग होते हैं जो कॉलोनियो के निर्माण में तरह-तरह की भूमिका पूरी करते हैं, पर जिनका अपना कोई घर नहीं होता है। उपन्यासकार ने अपने उपन्यास बसंती में इस व्यवस्था के पारिवारिक संबन्धों, आर्थिक समस्याओं और नैतिक मूल्य-संकटों का विश्वसनीय और मार्मिक चित्रण किया है। इन अस्थायी बस्तियों की भी अपनी एक व्यवस्था, एक जीवन पद्धति, एक संस्कृतिक होती है। सारे स्थायित्व के बावजूद इन बस्तियों में जीवन अपनी समस्त धड़कनों के साथ स्पंदित होता है। भीष्म साहनी ने इस जीवन की धड़कन को, उस व्यवस्था से टकराव को, उसकी त्रासदी के साथ प्रस्तुत किया है।

इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र बसन्ती है जो वर्तमान व्यवस्था से अपने जीने का हक माँगने की मुद्रा में पूरे उपन्यास में उपस्थित है। वह उस भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो व्यवस्था के अनेक स्तरीय शोषण की शिकार है। नारी के शोषण में खून के रिश्ते भी कितने बेमानी हो जाते हैं, पर बसन्ती शोषण का शिकार होकर भी हार नहीं मानती। वह पूरी व्यवस्था से विद्रोह करती है

तथा उससे लड़ती है। उसकी जिजीविषा और जीवन मे आस्था अजेय है। उसका चंचल स्वभाव बुरी से बुरी सम्भावनाओं को भी 'तो क्या होगा, बीबी जी' कहकर उड़ा देने की मनमौजी प्रवृत्ति, सहज विश्वास से भरा मन, उसका गृहस्थी के सपने को साकार करने का अकुंठ उत्साह और संघर्ष सब कुछ बहुत सजीव और सांकेतिक है।

नीलू नीलिमा नीलोफर

भीष्म साहनी के उपन्यास 'नीलू नीलिमा नीलोफर' में आज के भारतीय समाज का नंगा नाच प्रस्तुत किया गया है। आज के भारतीय समाज में धर्म और जाति के संस्कार सामूहिक मानस में इस प्रकार गहरे धँसे हुए हैं कि नयी पीढ़ी का व्यक्ति उनसे विद्रोह करके घायल और लहूलुहान होने से अपने को बचा नहीं पाता। हमारे देश में हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने संस्कारों में इस प्रकार जड़ीभूत है कि 'रोटी और बेटी' के स्तर पर उनका जुड़ना एक दूसरे का सपना है। शिक्षा के विकास और आधुनिक परिस्थितियों में बदलाव के फलस्वरूप 'रोटी के संबंध' की कट्टरता तो कुछ हद तक मिटी है, पर 'बेटी के सम्बन्ध' की कट्टरता अब भी दोनों समाज में बरकरार है। आज भी हिन्दू और मुसलमान के बीच विवाह-संबंध अनेक तरह की समस्याओं, यहां तक कि उपद्रव का कारण बन जाता है। यदि कोई युवक-युवती इस सामूहिक मानसिकता और सामाजिक संहिता को चुनौती देता है तो उसे दोनों धर्म की सामाजिक व्यवस्थाएं अपना दुश्मन मान लेती है। उसके खिलाफ जंग छेड़ देती है। यहाँ तक कि इस जंग में मनुष्यता के सारे श्रेष्ठ मूल्य, चाहे वे उस धर्म विशेष द्वारा समर्थित ही क्यों न हो, ताक पर रखकर कमीनी से कमीनी और घृणित से घृणित हरकतों का इस्तेमाल किया जाता है, जिससे दरारों में छिपी संवेदना भी आहत होने से नहीं बचती। इस जंग में पराजय अक्सर व्यक्ति की ही होती है। जो आज भारतीय समाज की स्थिति है।

विषय की परिधि के भीतर निम्नलिखित उपन्यास विवेच्य हैं।

1980-2000 ई० के बीच के भारतीय अनूदित प्रसिद्ध उपन्यासों तथा उपन्यासकारों के नाम।

क्षेत्रिय आधार पर वर्गीकरण

1. पूर्वी क्षेत्र – असमी, बँगला, मणिपुरी, मैथिली, उड़िया।
2. पश्चिमी क्षेत्र – गुजराती, मराठी, पंजाबी, राजस्थानी।
3. उत्तर / उत्तर मध्य क्षेत्र – डोगरी, कश्मीरी, उर्दू (उत्तर मध्य)।
4. दक्षिण क्षेत्र – कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम्।

पूर्वी क्षेत्र

असमीया

1. वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य – पाखी घोड़ा (अनुवादक – डॉ० महेन्द्र नाथ दुबे)
2. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगन्धा (अनुवादक – रमा भागवती)

बँगला

1. आशापूर्णा देवी – लीला चिरन्तन (अनुवादक – डॉ० रणजीत कुमार साहा)।
   – दृश्य से दृश्यान्तर (अनुवादक – ममता खरे)।
2. महाश्वेता देवी – सच-झूठ (अनुवादक – महाश्वेता देवी)

मैथिली

1. प्रभास कुमार चौधरी – राजा पोखरे में कितनी मछलियाँ (अनुवादक – विभा रानी)।

उड़िया

1. प्रतिभा राय – उत्तर मार्ग (अनुवादक – शंकर लाल पुरोहित)

पश्चिमी क्षेत्र

गुजराती

1. डॉ० केशुभाई देसाई – दीमक (अनुवादक – केसुभाई देसाई)।

मराठी

1. आनन्द यादव – जूझ (अनुवादक – केशव प्रथम वोर)।
2. लक्ष्मण गायकवाड़ – उठाईगीर (अनुवादक – सूर्य नारायण सुभे)।
3. व्यंकटेश दि० माडगूलकर – बनगरवाड़ी (अनुवादक – र०रा०सर्वटे)।

पंजाबी

1. गुरदयाल सिंह – परसा (अनुवादक – डॉ० अतर सिंह)
   – अध - चाँदनी रात
2. कर्त्तार सिंह दुग्गल – मन परदेशी

उत्तर / उत्तर मध्य क्षेत्र

डोगरी

1. वेदराही – अंधी सुरंग (अनुवादक – यश सरोज)

उर्दू

1. क़ुर्रतुलऐन हैदर – चाँदनी बेगम (अनुवादक – डॉ० वहाजउद्दीन अलवी)

दक्षिण क्षेत्र

कन्नड़

1. निरंजन — मृत्युंजय (अनुवादक – कान्तिदेव)

तमिल

1. तोफिल मुहम्मद मीरान – बंदरगाह (अनुवादक – एच०बाल सुब्रह्मण्यम्)

मलयालम

1. एम०टी० वासुदेवनायर – कालम् (अनुवादक – डॉ० एन०पी० कुट्टन पिल्लै)

पाखी घोड़ा

बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के असमिया उपन्यास 'पाखी घोड़ा' उनके स्वयं के पूर्व के उपन्यासों 'राजपथे रिडियाय' और मृत्युंजय की अगली कड़ी है। मृत्युंजय में जो हिंसा और अहिसा के बीच संघर्ष दिखायी देता है वह पाखी घोड़ा में भी है। सिर्फ संदर्भ बदल गया है। इसका संदर्भ ब्रितानी सरकार से भारत के लोगों को सत्ता हस्तान्तरण, भारतीय नौ सैनिकों का विद्रोह, पाकिस्तान के प्रस्तावित ढॉचे में असम को जोड़ने की मुस्लिम लीग की साजिश है। संयोग से असम के तत्कालीन प्रधानमंत्री गोपीनाथ वारदोलोई जैसा व्यक्तित्व इस उपन्यास में एक पात्र की हैसियत से आते हैं। इनके चरित्र का केन्द्र बिन्दु ऐसा बन जाता है जिससे जन-आंदोलन के दौरान सभी राजनीतिक शक्तियाँ एक जुट होकर कैबिनेट मिशन योजना का विरोध करती है। इनकी एक जुटता क्षेत्रीय मानसिकता को राष्ट्रीय मानसिकता से जोड़ने का काम करती है, जो एक प्रकार से एक बड़े ढाँचे को सुगठित करने में अपना योगदान देती है।

उपन्यासकार ने उस समय का वर्णन किया है जब चालीस के दशक का असम प्रांत का मध्यवर्ग नैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संकटों के बीच में घिरा हुआ था। यद्यपि इस संकट से मुक्ति पाने के लिए उपन्यास का मुख्य पात्र पंचानन नैतिक यौन-बंधनों को तोड़ने की हिम्मत करता है पर ऐसा करते हुए अनजाने ही अपने परिवार को तोड़ने का एक कारण बन जाता है। इस प्रकार यह उपन्यास बाहरी घटनाओं के बजाय अपने चरित्रों की अन्तश्चेतना का जीता-जागता यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है।

मत्स्यगन्धा

होमेन बरगोहाई के असमीया उपन्यास 'मत्स्यगंधा' एक सीधी-सादी कथा है। लेकिन इस रोमानी अंतर्वस्तु के बीच वस्तुकार ने असम प्रान्त में बसी जनजातियों की गरीबी, सामाजिक विसंगतियों निरक्षरता, छूआछूत का भेदभाव, वासना, संयुक्त परिवार की टूटन, आक्रोश, निराशा, हताशा का यथार्थपरक चित्र अंकित किया है। इसके साथ ही साथ उपन्यासकार ने सामाजिक अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध संघर्ष तथा इससे मुक्ति के उपाय भी सुलझे हैं तथा जनजातियो के पारस्परिक सांस्कृतिक जीवन, उनकी व्यथा-कथा उनके राग-विराग एवं अनमेल विवाह का यथार्थपरक चित्र भी प्रस्तुत किया है।

लीला चिरन्तन

आशापूर्णा देवी के बँगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन' एक जिम्मेदार व्यक्ति द्वारा अपनी गृहस्थी का सब-कुछ छोड़कर अचानक सन्यास ले लेने से उपजी सामाजिक और सांसारिक तकलीफों के बहाने आसपास का बहुत-कुछ देखने-समझने की कोशिश है। उपन्यासकार ने इस विचित्र परिस्थितियों को कई प्रश्नों और पात्रों के माध्यम से जीवन्त किया है। उपन्यास की नायिका कावेरी, जो आत्मविश्वास से भरी पुरी है, तमाम सामाजिक प्रश्नों से निरन्तर जूझती रहती है और उन रूढ़ियों से

भी लगातार लड़ती रहती है जो उसे जटिल सीमाओं में बाँधे रखना चाहती हैं। उपन्यास में इस पूरी नाटकीय किन्तु विश्वसनीय परिस्थिति को कावेरी की युवा और अल्हड बेटी सारे परिदृश्य को अपने अनुभवों के आधार पर व्यक्त करती है। इस प्रकार आशापूर्णादेवी का यह उपन्यास एक युवा-किशोरी के देखे-भोगे अनुभवों तथा समकालीन मध्यवर्गीय जीवन और सामाजिक मानस की यथार्थ छवि को प्रस्तुत करने में सफल है।

दृश्य से - श्यान्तर

आशापूर्णा देवी के बँगला उपन्यास 'दृश्य से दृश्यान्तर' के अंतर्वस्तु का परिवेश उस समय का है जब बड़े-बड़े नगरों के आसपास के इलाकों में भी विद्युत नहीं पहुँची थी। इस उपन्यास में आशापूर्णा देवी का लेखन संसार उनका अपना या निजी संसार नहीं, वह हम सबके घर-संसार का विस्तार है। आशापूर्णा देवी ने अपने उपन्यासों में समय के साथ बदलते हुए मूल्यों के फलस्वरूप समाज और परिवार के, व्यक्ति और व्यक्ति के, पुरुष और नारी के सम्बन्धों का सहज और सूक्ष्म मनोविश्लेषण किया है। अतः इनका उपन्यास दृश्य से दृश्यान्तर भी इससे अछूता नहीं है।

आशा पूर्णा देवी ने अपने इस उपन्यास में एक नन्हीं सी बालिका के बचपन का उसके चचेरे भाई-बहन, पिता, चाचा, दादी-माँ-मौसी और जाने कितने-कितने रिश्ते नातेदार और पड़ोसी सभी के रहन-सहन आपसी व्यवहार का चित्रण किया है। बाल्यावस्था प्राप्त कर किशोरावस्था का स्पर्श,माता-पिता का आपसी तनाव, बार-बार किराये के लिये गये घर बदलना, शादी-व्याह के अवसरों पर उल्लास और उदासी और इन्हीं सब बातों को लेकर कुछेक मार्मिक घटनाओं का अकस्मात घटित हो जाना उसके जीवन को एक ऐसे मोड़ पर ला खड़ा करता है, जहाँ से उसकी आँखें इस छद्मवेशी दुनिया को भलीभाँति देख-परख सकती है। अतः इस उपन्यास की कथा-व्यथा और समस्याएं एक किशोर बालिका या उसके सगे-संबंधी का ही नहीं बल्कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का तथा उसके

सगे-सम्बन्धी का हो सकता है।

सच-झूठ

महाश्वेता देवी का बँगला उपन्यास सच-झूठ एक नई जमीन हमारे सामने प्रस्तुत करती है। आज हमारे भारतीय समाज में नव-धनाढ्य वर्ग की अपनी विचित्र लीला है। अब नवधनाढ्य वर्ग घर-मकान छोड़कर प्रोमोटरें द्वारा बनवायी गयी बहुमंजिली इमारतों के फ्लैटों में कई-कई मंजिलों में बसते हैं। इन फ्लैटों की सजावट उनके धन के प्रदर्शन का साधन है लेकिन इन बहुमंजिली इमारतों के पार्श्व मे एक पुरानी बस्ती का होना भी आवश्यक है। वह बस्ती न रहे तो फ्लैटों में बसने वाली मेम साहबों की सेवा के लिए दाइयॉ – नौकरानियाँ कहा से आये। फिर इन दाइयों की साहबों को भी जरूरत रहती है। मेमसाहबों की गैर मौजूदगी में बर्बर शरीर और उद्धत यौवन से परिपूर्ण ये युवती दाइयाँ साहबों के वासना के काम आती है, ऐसी ही एक दाई यमुना और धनिक साहब अर्जुन के चारों ओर घुमती यह कथा धनिक वर्ग के जीवन के गुप्त रहस्यों का पर्दाफाश करती है जहाँ गरीबों का शोषण आज भी बरकरार है, तथा औरतों को आज भी पुरुष प्रधान समाज में रुपये का गुलाम समझा जाता है। जिसका जीवन्त चित्र इस उपन्यास में उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है।

राजा पोखरे में कितनी मछलियाँ

प्रभास कुमार चौधरी के मैथिली उपन्यास राजा पोखरे में कितनी मछलियाँ एक विचारोत्तेजक उपन्यास है। इसमें उपन्यासकार ने ढहती सामन्ती व्यवस्था और उसके भीतर से उपजे खोखले आदर्श एवं तीखे यथार्थ का जीवंत चित्रण किया है। इस उपन्यास में प्रेम, त्याग, समर्पण और कर्त्तव्य-भावना के बीच एक ऐसे नायक-चरित्र की लम्बी संघर्ष-कथा है जो अपने आसपास के भ्रष्टाचार, अत्याचार और अपसंस्कारों की त्रासदियाँ भोगने के लिए विवश है। उसकी नियति उस व्यक्ति-जैसी ही है जो एक स्वस्थ, सुंदर, समभाव वाला जीवन, समाज के आदर्श और यथार्थ को देखना चाहता

है। प्रभास कुमार चौधरी का यह उपन्यास समाज को मानवीय मूल्यो और उसकी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति देने वाला है।

उत्तर मार्ग

प्रतिभा राय के उड़िया उपन्यास 'उत्तर मार्ग' में उड़ीसा के खास अंचल के उन स्वतंत्रता सेनानियों के जीवन का चित्रांकन किया गया है जिसकी गौरवगाथा को स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी उड़ीसा के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के इतिहास में अभी तक लिपिबद्ध नहीं किया गया है, ऐसे स्वतंत्रता-सेनानी भी रहे हैं जिनके देश-प्रेम, त्याग, साहस और बलिदान का इतिहास के पन्नों पर कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में देश की आजादी के लिए समर्पित दिगन्त केशरी, मदन जेना, श्यामा फुहाण, परशुराम, हरि विश्वाल पुरुष पात्र तथा रमादेवी, साध्वी और मैथिली आदि स्त्री-पात्रों के माध्यम से उस अँचल के स्वतंत्रता सेनानियों की तपःभूमि एवं साहसिक जीवन के संदर्भों को कथावस्तु का आधार बनाया है।

दीमक

डॉ० केशुभाई देसाई का गुजराती उपन्यास दीमक अपने आप में एक अनूठी कलाकृति होने के साथ-साथ साहित्यकार के सामाजिक दायित्व का उत्कृष्ट उदाहरण भी है। इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या मूलतः हिन्दू-मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिकता है। इस समस्या ने कुछ पिछले वर्षों से जो विकृति का रूप धारण किया है, किसी भी संवेदनशील साहित्यकार की अन्तरात्मा को झकझोरने के लिए काफी है। डॉ० केशुभाई देसाई भी इससे अछूते नहीं है। पीढ़ियों से चला आ रहा साम्प्रदायिक सौमनस्य अचानक वैमनस्य की आग में कैसे परिवर्तित हो गया? इस उपन्यास के नायक बचू को यह पहेली समझ में नहीं आ रही। उसके लिए तो अपने हिन्दू पड़ोसी ईजूफूफी व ढींगा जैसे स्वजनों से भी ज्यादा आत्मीय है। देहात में रहते-रहते उसने कभी कल्पना तक नहीं की थी कि एक दिन शहर

की साम्प्रदायिक गुण्डागर्दी उसके परिवार को नेस्तनाबूद करके छोड़ेगी और तब अपने ही सहधर्मियों के हाथों घायल होकर अस्पताल के बिछौने पर दम तोडने से पहले वह अपनी पड़ोसी ढींगा के लिए नेत्रदान करने के लिए इच्छा प्रकट करता है।

उपन्यासकार ने नायक बचू की शहीदी के माध्यम से पूरे भारतवर्ष की स्थापित मूल्यपरक एवं सहिष्णु जीवन-रीति के सामने प्रश्न चिन्ह लगाया है, तथा राष्ट्रीय अस्मिता के मूल को कुरेदने वाली इस 'दीमक' के प्रति अंगुलि-निर्देश भी किया है।

जूझ

आनन्द यादव की मराठी उपन्यास 'जूझ' एक आत्मकथात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है, इसका आंचलिक पक्ष। यह उपन्यास एक गरीब किसान के बेटे कि जिजीविषा की व्यथा-कथा, समकालीन ग्रामीण जीवन और महाराष्ट्र के किसी गाँव की कृषि संस्कृति के घनघोर अनुभव को समेटे हुए हैं। इसमें गरीब किसान के जीवन का स्पंदन, ग्रामीण-जीवन का यथार्थ चित्रण और एक संघर्षशील गरीब किसान के पुत्र के खो गये बचपन की करुणा गाथा है। इस उपन्यास की मूल संवेदना है एक गरीब किसान के घर पैदा हुआ बालक जो पढ़ने की उत्कट अभिलाषा रखता है पर उसे घोर निराशा तथा ग्लानि होती है। पिता के रूढ़िवादी विचारधाराओं के विरुद्ध उसे संघर्ष करना पड़ता है।

इस उपन्यास में आज़ादी के कुछ वर्ष पहले तथा बाद संक्रमणकालीन, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की धमक भी महसूस की जा सकती है।

उठाईगीर

लक्ष्मण गायकवाड़ का मराठी उपन्यास 'उठाईगीर' एक आत्मकथात्मक उपन्यास है जो पददलित समाज के एक सदस्य के रूप में उनके अनुभवों पर आधारित है। इस उपन्यास के अंतर्वस्तु

की पृष्ठभूमि लातूर तहसील के धनेगाँव नामक गाँव तथा उनके आस-पास का गाँव है। उपन्यासकार ने इन गॉवों में जन्में जनजातियो के जीवन से जुड़ी समस्याओं, उनके रहन-सहन, खान-पान, संस्कृति, उन जनजातियों में व्याप्त अंधविश्वास, गरीबी से उत्पन्न चोरी तथा वर्दीधारी सरकारी तंत्रों द्वारा इन जनजातियों के शोषण का चित्रण किया है। उठाईगीर का शाब्दिक अर्थ है उचल्या या उचक्का। अतः इन जनजातियों में परम्परा के अनुसार कम ही उम्र के लड़कों या लड़कियों को चोरी की शिक्षा दी जाती है।

यह शोषितों की घिसी-पिटी गाथा से अलग एक आत्मकथात्मक वृतान्त है जो समाज के छोटे-मोटे अपराधों पर पल रहे एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। बिना किसी आत्मदया या किसी किस्म की आत्ममुग्धता के यह उपन्यास अनगढ़ सच्चाई की ताज़गी का अहसास कराता है यह एक मनुष्य और उसके समाज की कथा है जो अकृत्रिम शैली में बयान की गयी है। यह उपन्यास एक बेबाक और सशक्त साहित्यिक कृति होने के साथ-साथ महत्वपूर्ण सामाजिक-वैज्ञानिक दस्तावेज है।

बनगरवाड़ी

व्यंकटेश दि० माडगूलकर के मराठी उपन्यास 'बनगरवाड़ी' में आज के मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा सम्मिश्र प्रवृत्तियों का चित्रण, गँवई जीवन के मनोविश्लेषण की गहराई का अंकन, और सम्पूर्ण मानवीय आस्थाओं का जीवन्त रूप मुखर हुआ है। उपन्यासकार ने महाराष्ट्र के एक छोटे से गाँव के बहाने अपने समय के समाज, समूचे देश की समस्याओं और उन सबके बीच जीते-भोगते मनुष्य के बहुरंगी यथार्थ को अधुनातन संवेदना के साथ आत्मीय अभिव्यक्ति दी है।

परस

गुरुदयाल सिंह का पंजाबी उपन्यास 'परसा' एक महाकाव्यात्मक कृति है। परसा पंजाब के उस मालवा खंड की कथा कहता है जहाँ के लोगों ने अंग्रेज जैसी बलवान हुकूमत के आगे कभी सिर नहीं

झुकाया था। यह उपन्यास उसी संस्कृति की स्वतंत्र आत्मा की मशाल जलाए रखने का बहुत सफल प्रयास है।

इस उपन्यास का नायक परसा तथा अन्य पात्र जैसे बसंता और मुख्तार कौर आदि सभी सुसभ्य, सुसंस्कृत या पढ़े-लिखे लोग नहीं है। वे एकदम सीधे-सादे और निर्भय गंवार लोग हैं। वे आदमी हैं। व्यक्ति हैं, समूह से एकदम अलग, जाबांज। अंधविश्वासों और टोनों-टोटकों की जकडन से मुक्त लोग हैं। उन्हें न तो मृत्यु डराती है और न ही जीवन के बीहड़ों से वे भयभीत होते हैं। नायक 'परसा' सभी मजहबों तथा धर्मों-कर्मो के आवरण को उतार फेंकता है। वह केवल कर्म की गरिमा तथा गौरव को ही मानवी धर्म मानता है। इस प्रकार यह नायक कर्म की शक्ति को बल प्रदान करता है और इसी कर्म-शक्ति का अनुकरण करता हुआ जीता है। वह भगवान पर विश्वास करने के बजाए स्वयं पर भरोसा करके एक सृजनहार की भाँति जीवन व्यतीत करता है। यह वह मानववाद है जिसके लिए मानव सदैव जूझता आया है।

उपन्यासकार 'परसा' और मुख्यार कौर के प्रेम संबंध को प्रेम की अनुभूति के बजाय सेक्स से आरंभ करवाता है। प्रेम और सेक्स की शुरुआत भले ही पुरुष पात्र करें लेकिन स्त्री पात्रों द्वारा ही आरंभिक प्रेरणा उपलब्ध करवाया जाना अद्‌भुत है। मुखत्यार कौर की शारीरिक जरूरतें उसे हर परंपरा और वंचना की सीमा को तोड़ डालने का साहस देती हैं। वही परसा उसके साथ अपने प्रेम-संबंध को कर्त्तव्य के स्तर पर ही लेता है।

अध-चाँ-नी रात

गुरुदयाल सिंह का पंजाबी उपन्यास 'अध-चाँदनी रात' की अंतर्वस्तु पूरी तरह हत्या पर आधारित है। गुरुदयाल सिंह ने ग्रामीण संस्कृति में क़त्ल की घटना को नये दृष्टिकोण से देखा है। स्वाभिमान, पंजाब के गाँवों का सर्वोत्तम गुण माना जाता है और पैतृक बदला लेना मर्दानगी। ऐसे मूल्यों

के वातावरण में यदि कोई व्यक्ति शान्त अथवा अहिंसक होकर रहना चाहे तो उससे मर्दानगी का रुतबा छीन लिया जाता है और अन्ततः वह भी उसी बहाव में बह निकलता है क्योंकि वे मूल्य उसके भी अवचेतन में कहीं न कहीं छिपे रहते हैं। जाट की परम्परा को निभाता हुआ अध-चाँदनी रात का केन्द्रीय पात्र मोदन अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए धणे का कत्ल करता है। लेकिन उसका भाई धणे के बेटों के साथ व्यापार करता है। बाजार में यही होता है, पैसा प्रधान है और यह व्यापार उस समय से चालू है जब पारिवारिक दुश्मनी को अंजाम तक पहुँचाने के बाद मोहन जेल की सलाखों में है। पंजाब की लोक-संस्कृति को उजागर करने वाला यह उपन्यास हमारी मानवीय सहानुभूति को व्यापक बनाता है और हमें मानव-विडम्बना से अवगत कराता है।

मन प२ेशो

कर्त्तार सिंह दुग्गल का पंजाबी उपन्यास 'मन परदेशी' विभाजन की त्रासदी पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने विभाजन के कारण उत्पन्न नारी जीवन के द्वन्द्व, दुविधाओं तथा उसकी विडम्बना का चित्र अंकित किया है। इस उपन्यास की नायिका 'कुसदिया बेगम' पति के मृत्यु तथा देश विभाजन के बाद रिश्तेदारों के समझाने पर भी देश छोड़कर पाकिस्तान जाने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन बड़ी बेटी सीमा द्वारा एक सिक्ख से विवाह करना, बड़ा बेटा जाहिद का पाकिस्तानी न बनने का निर्णय तथा छोटी पुत्री जेबा का हिन्दू युवक राजीव से विवाह करने की जिदद् आदि सारी घटनाओं ने उसे जड़ से हिला दिया। तब वह पाकिस्तान जाने के लिए तैयार हो जाती है किन्तु अचानक महात्मा गांधी की हत्या का समाचार ने माँ-बेटी की विचारधारा को बिलकुल परिवर्तित कर दिया और वह पाकिस्तान जाने का इरादा छोड़ देती है। जेबा धीरे-धीरे साम्प्रदायिक विचारों से मुक्त होती है। कुसदिया बेगम अपनी छोटी बेटी 'जेबा' का विवाह हिन्दू युवक राजीव से नहीं करना चाहती लेकिन जेबा की इच्छा राजीव से शादी करने में ही है। दूसरी तरफ राजीव जेबा को पाने के लिए धर्म परिवर्तित कर हिन्दू से मुस्लिम बनने के लिए तैयार हो जाता है। कुसदिया बेगम

किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है।

उपन्यासकार ने इस उपन्यास में नारी जीवन की विडम्बना के साथ-साथ बँटवारे के बाद भारत में रह गये मुसलमानों के द्वन्द्व, दुविधा तथा व्यथा का सशक्त चित्रांकन भी किया है। आजादी के बाद मुसलमानों के जीवन में परस्पर विरोधी वफादारियों का जो संघर्ष पैदा हुआ, उसने उन्हें अपने ही देश में अजनवी बना दिया है। इस प्रकार उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में भारतीय मुसलमानों की पीड़ा और द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देने में सफल रहा है।

अंधी सुरंग

वेदराही का डोगरी उपन्यास 'अंधी सुरंग' की पृष्ठभूमि जम्मू-कश्मीर राज्य के वे हालात हैं, जिन्होंने वहाँ आज की दुर्दशा को जन्म दिया है। उपन्यासकार द्वारा रचित यह उपन्यास व्यक्ति तथा समाज का यथार्थ के धरातल पर सत्य की खोज का एक जीवन्त और सार्थक प्रयास है। इस उपन्यास का नायक चरण और नायिका रानी दोनों एक-दूसरे को कुण्ठित और हाहाकारी परिस्थितियों से निकालते हुए यह भूल गये कि समाज और परिवेश के भ्रष्ट सिद्धांत उनके विपरीत है। चरण की देशभक्ति और उसका विद्यालय का छात्र न रहते हुए भी वह छात्रों की उचित मांगों के समर्थन में जुलूस में शामिल होकर चोटिल हो जाना वे सभी उसके सिद्धांतों को दृढता पहुँचाते हैं, लेकिन इन सिद्धान्तों के चलते समय और परिवेश से तालमेल बैठाना उसके लिए मुमकिन नहीं। नतीजा यह होता है कि समय की अंधी सुरंग से गुजरते हुए चरण और रानी दोनों को यह सब सहना पड़ता है जिसकी दोनों ने कल्पना भी नहीं की थी। जिन असहनीय यातनाओं, संघर्षों और त्रासदियों से वे गुजरे उन्हीं का दस्तावेज है यह उपन्यास। इस प्रकार इस उपन्यास का सरोकार समाज में लगातार अकेले होते जा रहे व्यक्ति के अन्तर्मन से तो है ही उससे कहीं ज्यादा भी है, जो चरण और रानी के माध्यम से उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है।

चाँदनी बेगम

कुर्रतुलऐन हैदर का उर्दू उपन्यास 'चॉदनी बेगम' की पृष्ठभूमि के केन्द्र में लखनऊ की रेडरोड की कोठी तथा उस कोठी के इर्द-गिर्द बसे लोग हैं। उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में कोठी के इर्द-गिर्द बसने वाले लोगों के रहन-सहन, खान-पान, वहां के लोगो का रीतिरिवाज, आर्थिक तंगी से उत्पन्न गरीबी, अपहरण की समस्या, विवाह की समस्या, दहेज तथा स्त्री के अधिकारों का मार्मिक चित्रण किया है। चूँकि राना साहब को छोड़कर सभी पात्र काल्पनिक है। अतः उपन्यासकार ने इन्हीं काल्पनिक पात्रों की सहायता से कोठी के इर्द-गिर्द बसे लोगों के बदलते समाज, रिश्तों एवं उनके चरित्रों के रंगारंग तस्वीरों को चित्रित किया है। इस प्रकार इस उपन्यास में इन्सान की बेवसी, व्यक्ति के हताशा एवं उनमें निराशा के भाव की भी अभिव्यक्ति हुई है।

मृत्युंजय

निरंजन ने अपने कन्नड़ उपन्यास 'मृत्युंजय' में पैंतालिस सौ वर्ष पहले के मिस्र की सामन्ती व्यवस्था एवं उसी समय के समाज व्यवस्था का संजीदगी से चित्रण किया है। इस उपन्यास का अंतर्वस्तु कितनी ही विचित्र घटनाओं और अजीबो गरीब रूढ़ियों, सरकारी तंत्रों द्वारा गरीब किसानों, जुलाहों, व्यवसायियों, बढ़ई, भवन का निर्माण करने वाले छोटे-छोटे व्यापारियों का किया जाने वाला शोषण तथा सामाजिक मान्यताओं से भरापूरा है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में विशिष्ट व्यवक्तियों की मृत्यु के बाद शव लेपन क्रिया, जीवित अवस्था में ही अपनी कब्र का निर्माण, देवालयों में पालतू पशुओं के साथ किसी विशेष उद्‌देश्य से देवदासियों का यौन संबंध आदि का मार्मिक चित्रण भी किया है। तत्कालीन राजसत्ता और पुरोहितवाद के पैने अंकुश तले दास्ता का जीवन जी रहा निरीह समाज मुक्ति के लिए छटपटा रहा है और शोषण एवं दमन के विरोध में सामंतशाही के प्रति खुला विद्रोह कर बैठता है। तत्कालीन शासन द्वारा क्रूर दमन चक्र अपनाने से मिस्र की धरती में पहले-पहल नये

जीवन-मूल्यों का बोध कराने वाली क्रांति के बीज अवश्य पड़ गये। इस प्रकार मृत्युंजय एक त्रासदी है, अंधेरे युग की पीड़ा भरी एक गाथा है, जिसके अवशेष आज भी हमें धरती पर जहाँ कहीं दिख जाते हैं।

बंदरगाह

तोफिल मुहम्मद मीरान के तमिल उपन्यास 'बंदरगाह' तमिलनाडु के एक गाँव से शुरू होता है। इस उपन्यास में एक ऐसे समाज की अंतर्वस्तु है जो मछली सुखाकर उसके व्यापार से जीवन यापन करते हैं। यह समाज अंधविश्वासों, दकियानूसी विचारों और पाखंडों से पूरी तरह जकड़ा हुआ है। इस समाज में आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों, पूंजीपतियों, जमींदारों के चंगुल में फंसकर निरीह जनता किस तरह घुटन महसूस करती है, नई सभ्यता की रोशनी के लिए अभेद्य उस समाज में जीने वालों के लिए भूख और फाकामस्ती जिन्दगी का अंग बन गयी है। मजहब को हथियार बनाकर किस क़दर कौमी और दीनी नेता गरीबों के शोषण में लगे रहते हैं, मजहब और अंधविश्वास किस प्रकार निरीह लोगों के सिर पर विनाश की लीला करता रहता है। इन सबका जीवंत चित्र उपन्यासकार ने इस उपन्यास में उकेरा है।

इन तमाम विकृतियों के बावजूद उपन्यासकार एक आस्था एक नई किरण की उम्मीद दिलाते हैं जो इस उपन्यास में गरीबों पर जुल्म ढाने वाले प्रवंचकों को समाज में ठगी का स्थायी बाजार नहीं चलाने देती।

इस उपन्यास में उपन्यासकार ने केवल अतीत की ही कहानी नहीं बल्कि उस अतीत से निकले वर्तमान की भी कहानी प्रस्तुत किया है। वर्तमान को सुन्दर और सार्थक बनाने में अतीत से सीखे गए सबक याद आते हैं। यही इस उपन्यास का अनूठापन है।

ालम्

एम०टी० वासुदेव नायर के मलयालम उपन्यास 'कालम्' आधुनिक युग का व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास है। किस प्रकार से स्वातंत्रयोत्तर भारत में बुद्धिवादी मानव मोह और कुंठा से ग्रसित होकर निजी स्वार्थ के लिए पुनः जीने की जिजीविषा रखता है, उपन्यास यह इसमें दर्शाता है फिर, किस प्रकार से वह अहं भावना तथा अतृप्ति की जीवन-शैली में पड़कर असहायता, शून्यताबोध एवं घुटन महसूस करता है इसे भी उत्कीर्ण किया है। इसी उपन्यास का पात्र 'सेतु' कई नारियो जैसे सुमित्रा, तंकमणी आदि सभी से प्रेम करता है। उसका प्रेम स्वार्थ निष्ठ है। वह नारियों को मात्र भोग की वस्तु समझता है। इसके लिए वह अपने स्वार्थ और अहं के पोषण के लिए मूल्यों का तिरस्कार तक करने में भी संकोच नहीं करता। यहां तक कि अपने बॉस की पत्नी का प्रेमी बनकर बाद में उससे शादी करने में भी उसका निजी स्वार्थ ही प्रबल काम करता है। इस तरह से सेतु नामक नायक नये युवा के मानव का आत्मताप है, व्यक्तिमानव की पीड़ा है।

क्षेत्रीयता और भारतीयता

क्षेत्रों के मनोविज्ञान का औपन्यासिक अध्ययन

भारतीय लेखक आज व्यक्ति के रूप में कम परिवार के सदस्य के रूप में ही लेखन करता है। आज हमारी परिवार व्यवस्था ने संयुक्त रूप के स्थान पर विभाजित रुप अवश्य ग्रहण किया है परन्तु वह विघटित नहीं हुआ है। हमारे लेखन का अधिकांश अनुभव विश्व परिवार की नींव विवाह-संस्था पर होने वाले आघात, परिवार में बदलते संबंध, परिवार में पिसता व्यक्तित्व, आर्थिक कठिनाईयों में दबे सदस्यों का दु:ख इत्यादि बातों के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। भारतीय संस्कृति में परिवार का स्थान इतना दृढ़ है कि व्यक्ति सर्वप्रथम पारिवारिक वास्तविकता से ही परिचित होता है। जाति, वर्ण, धर्म, समाज, राष्ट्र ये संस्थाएं बाद में व्यक्ति के यथार्थ विषयक ज्ञान में प्रविष्ट होती है।'[1]

भारतीय उपन्यास का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इसके बाद यहाँ भारतीय उपन्यास-साहित्य ने अत्यंत तीव्रगति से प्रगति की इन उपन्यासों के प्रगति का स्तर क्षेत्रीय तथा भारतीय दोनों ही स्तर पर हुआ। जिस क्षेत्र में जितना और जैसा ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ उतना और वैसा ही सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, उपन्यासों का उत्कर्ष हुआ। भारतीय उपन्यासों ने क्षेत्रीय व्यक्तित्व को कुंठित किये बिना ही अखिल भारतीय रूप को परिपुष्ट किया है, और समग्र भारत की समान चिन्तना, समान शैली और समान कला-सौष्ठव को सिद्ध करते हुए बौद्धिक सांस्कृतिक और राजनीतिक धरातल पर उसकी अखंडता का परिचय दिया है। औपनिवेशिक पराधीनता से देश की मुक्ति के बाद भारतीय उपन्यासों के सामने नव यथार्थ का एक ऐसा परिदृश्य उपस्थित हुआ जिसमें उसके बहुमुखी विचरण की अनन्त सम्भावनाएं थी। उपन्यास

---

1. चंद्रकांत बांदिवडेकर – उपन्यास : स्थिति और गति 'भारतीय साहित्यकारों की मानसिकता' शीर्षक से, पूर्वोदय प्रकाशन नयी दिल्ली – 1977

अपने समय का साक्षी तो होता ही है, वह समय के साथ यात्रा या समय से आगे भी यात्रा करता है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों की यात्रा में भारतीय उपन्यासों में देश के बदलते हुए जीवन यथार्थ को उसके पूरे विस्तार और वैविध्य में गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। समकालीन यथार्थ का शायद ही कोई पक्ष हो जो भारतीय उपन्यासों की संवेदनशील पकड़ से छूट गया हो। पिछली आधी सदी में गांवों की वास्तविक जिन्दगी और उसमें आये बदलाव, दलितों की नरकतुल्य जिन्दगी और उनके उठ खड़े होने की सच्चाई, समाज के पिछड़े वर्ग का विद्रोह, स्त्री की परम्परागत दुःखभरी दास्तान, उसके रुपान्तरण तथा सबलीकरण की प्रक्रिया मध्यवर्ग का बहुरंगी यथार्थ, परिवेश की विकृतियाँ राजनीति के क्षेत्र में आयी गिरावट, कला साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र की बदसूरत वास्तविकता आदि भारतीय उपन्यासों में अपने यथार्थ रूप में दिखाई देती है। इसके साथ ही भारतीय इतिहास और पुराण साहित्य भी उपन्यास का उपजीव्य बना है।

देश की लगभग सत्तर से अस्सी प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है। ग्रामवासियों की जीवन शैली और प्रकृति में वैविध्य कम है। उनकी जीविका का प्रमुख जरिया खेती-बारी या जंगल, पहाड़, नदी, तालाब, समुद्र, नलकूप आदि संसाधन होते हैं। आर्थिक दृष्टि से गरीब सुख-सुविधाओं से वंचित होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, रोजगार आदि के साधन बहुत निचले स्तर पर है। सामाजिक दृष्टि से स्तर भेद बहुत अधिक है। आजादी के तुरंत बाद गाँवों की जीवन-स्थिति में थोड़ा बहुत बदलाव आया। लेकिन बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तक आते-आते गाँव की आबादी का कस्बों, नगरों, महानगरों में निरन्तर पलायन हो रहा है। राजनीति के झटके हर प्रदेश के गाँवों को लगने लगे हैं। मंदिर मस्जिद के झगड़े गाँवों में पैदा होने लगे हैं। दलित और पिछड़ा वर्ग अपने अधिकारों के लिए उग्र संघर्ष की ओर बढ़ रहा है। स्त्री भी अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रही है। गाँवों की जिन्दगी में धीमी गति से ही सही लगातार बदलाव आ रहा है। ग्राम भारत के इस यथार्थ का चित्रण विगत पचास वर्षों के भारतीय उपन्यास साहित्य का प्रमुख विषय रहा है। भारतीय उपन्यासकारों ने नेपाल

से लेकर केरल तक और असम से लेकर कश्मीर तक के व्यापक भूखंड में फैली ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों का अंकन किया है।

जब हम भारतीय उपन्यासो में क्षेत्रीयता और भारतीयता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं तो सबसे पहले हमारे दिमाग में यह प्रश्न उठता है कि भारतीय उपन्यासों की संवेदना, उसका विषय वस्तु उसमें घटने वाली घटनाएं तथा उन उपन्यासों में व्याप्त समस्याएं किस स्तर की हैं? तथा किस प्रकार हमारे भारतीय समाज को क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रभाव डालती है? इसी क्रम में ''सतीनाथ भादुड़ी का बँगला उपन्यास 'ढोढाय चरित मानस' जो तुलसीदास के रामचरितमानस की फ्रेम में लिखा गया आँचलिक उपन्यास है। सतीनाथ भादुड़ी ने जिस ग्रामांचल को केन्द्र में रखा है वह है उनकी वासभूमि बिहार राज्य के पूर्णिया जिले का एक गाँव-जिरानिया है''।[1] जो उस अंचल विशेष की संस्कृति, वहॉ के रहन-सहन, खान-पान एवं सामाजिक विसंगतियों को उजागर करता हुआ प्रतीत होता है। पूर्णिया जिला का यह 'जिरानियां गाँव की समस्या क्षेत्रीय होते हुए भी भारतीय समस्या जान पड़ती है।

हिन्दी उपन्यास 'खंजन नयन' अमृतलाल नागर के स्वयं के उपन्यास मानस के हंस की परम्परा का महाकवि सूरदास के जीवन पर आधारित उपन्यास है। सूरदास के भक्त और कवि व्यक्तित्व को उभारना ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। विपरीत परिस्थितियों में भी जन्मांध बालक सूर संघर्ष करता है, यह संघर्ष सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक मनोवैज्ञानिक स्तर पर उसके जीवन पर्यन्त चलता रहता है, जिसकी ऑच में तपकर सूर परमभक्त कवि सूरदास बनता है। सूरदास के व्यक्ति निर्माण के क्रम में अमृतलाल नागर ने मध्यकालीन भारत की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को बड़ी सजगता के साथ चित्रित किया है। नागर जी का एक अन्य उपन्यास 'बिखरे तिनके'

---

1. भोलाभाई पटेल – भारतीय उपन्यास परम्परा और ग्रामकेन्द्री उपन्यास – पृ० सं०-240 प्र०सं०- दिसम्बर –2001 रंगद्वार प्रकाशन

आधुनिक भारतीय समाज तथा भारतीय राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा उसके प्रभाव पर आधारित है। इस उपन्यास में नगरपालिका के हेल्थ ऑफिसर के पी०ए० गुरुसरन बाबू जो भ्रष्टाचार की साक्षात मूर्ति है, और हेल्थ ऑफिसर डॉ० गोयल जैसे लोग अंग्रेजी मानसिकता की गुलामशाही के प्रतीक स्वरूप हैं, जो खुलेआम व्यभिचार और भाई-भतीजावाद फैलाये हुए हैं। उनकी मूल्यहीनता और विलास चर्चा का कोई अन्त नहीं है जो आज के भारतीय नेताओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है। इसी उपन्यास की दूसरी कथा इन्हीं नेताओं की है जो कल तक राजा और बड़े जमींदार थे कभी वे ताकत के बल पर राज करते थे और आज वोट के बल पर राज करते हैं। नेताओं के प्रतिनिधि पात्र बबलू। सुहागी और सुरसतिया जैसे निचले तबके के पात्र जो अपनी जिन्दगी अपने ढंग से नहीं जीते बल्कि उनकी नियति की डोरी हमेशा दूसरों के हाथ में है। इस उपन्यास का नायक बिल्लू जो छात्र नेता है। भ्रष्ट लोगों के विरुद्ध आन्दोलन करता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने व्यंग्य के माध्यम से आज की भारतीय राजनीति पर कठोर प्रहार किया है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'करवट' का मुख्य क्षेत्र लखनऊ, है। काल की दृष्टि से 1805 ई० से 1905 ई० तक की अवधि का इतिहास है। 'करवट' की कथा एक खत्री परिवार के तीन पीढ़ियों से सम्बद्ध है। 1805 ई० से 1905 ई० के बीच इन तीन पीढ़ियों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्यों में हुए परिवर्तन तथा अंग्रेजों के आगमन से इन पीढ़ियों के सोच में आये बदलाव इन तीन पीढ़ियों का नहीं बल्कि तत्कालीन भारतीय समाज के सोच में आये बदलाव का हिस्सा है यद्यपि इस तरह से भारतीय समाज की मानसिकता में बदलाव से युवा वर्ग का अंग्रेजों के प्रति आक्रोश खुलकर सामने आता है। कुल मिलाकर देखा जाय तो 'करवट', भारत में सामंती व्यवस्था के अवशेषों पर पनपते ब्रिटिश उपनिवेशवाद के घिनौने चेहरे का उद्घाटन, भारतीय मध्यवर्ग के विकास और नयी चेतना को सामाजिक बदलाव की प्रेरणा के रूप में स्वीकार करने वाली पुनर्जागरणकालीन भारतीय मानसिकता का ऐतिहासिक दस्तावेज है। नागर जी का एक दूसरा उपन्यास 'अग्निगर्भा' की केन्द्रीय समस्या समाज में व्याप्त दहेज की समस्या है। दहेज

की समस्या एक ऐसी राष्ट्रीय समस्या है। जिससे भारत के हर वर्ग, हर सम्प्रदाय के लोग प्रभावित हैं। अत: आधुनिक युग में रिश्तो का स्थान धन ने ले लिया है।

मराठी उपन्यास 'जूझ' एक गरीब किसान के बेटे की जिजीविषा की व्यथा-कथा, समकालीन ग्रामीण जीवन और महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिले के 'कागल' गॉव की कृषि-संस्कृति के घनघोर अनुभव को समेटे हुए हैं, इसमें गरीब किसान के जीवन का स्पंदन, ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण और एक संघर्षशील गरीब किसान के पुत्र के खो गये बचपन की करुण कथा है। 'कागल' गाँव का एक गरीब किसान के घर पैदा हुआ बालक 'आन्दू' पढ़ने की उत्कट अभिलाषा रखता है, पर उसका बाप उसका परम शत्रु है जो उस बच्चे को खेती में जोत देता है और उसकी पढ़ाई-लिखाई को खेतों के कामों के लिए हमेशा बाधक मानता है। यही इस उपन्यास की मूल संवेदना है। जिसे निम्न संदर्भ से अनुभव किया जा सकता है – "मूत दे पाठशाला पर। परसों मैंने क्या कहा था तुझे? अपने को पाठशाला-वाठशाला नहीं चाहिए। बारह आने का अर्थ है दो औरतों की मजदूरी। और वह भी दे कर नापास हो गया तो? मास्टर के कफन पर डालने जैसा होगा।"[1] "वे जूता देह हैं। द्वार के बाहर पड़े हैं। सुना नहीं, मूत, उस पाठशाला पर। पुरखे कहकर नहीं मरे कि पाठशाला जाना चाहिए।"[2] "पढ़ाई-लिखाई जला दे चूल्हे में नहीं तो बहा दे नाले में ... चेहरा पे घास बढ़ जाएगी तब करेगा व्याह?"[3]

ऐसा तेजाबी वाक्य सुनकर कौन बेटा अपने बाप से नफरत न करने लगे। प्रतिदिन बाप के मुख से लगभग इसी प्रकार की शब्दावली उसे सुनने को मिलती है। ऐसे में उसे कभी-कभी घोर निराशा और ग्लानि होती है। वह बालक ऐसे बाप को पाकर अपने आप को कोसता है, अपने भाग्य को दुत्कारता है। उसकी चरम निराशा को निम्न वाक्यों में महसूस किया जा सकता है। "मेरा नसीब भी

---

1. आनंद यादव – जूझ, – पृ० संख्या-92, भा०ज्ञा०प्र० –1999
2. आनंद यादव – जूझ, – पृ० संख्या- 93 भा०ज्ञा०प्र० –1999
3. आनंद यादव – जूझ, पृ० संख्या- 237 भा०ज्ञा०प्र० – 1999

हिजड़ा है – न मर्द न औरत।"[1]

इस प्रकार इस उपन्यास की ये सारी घटनाएं एक महाराष्ट्र के गांव के एक परिवार में घटित होती है। भारत के किसी अन्य राज्य या यों कहे कि महाराष्ट्र के ही प्रत्येक गॉव के हर किसान परिवार में घटित होता हो ऐसा नहीं हो सकता। देश का हर किसान अपने बेटे को 'आन्दू' जैसा प्रताड़ित नहीं करता? बल्कि वह अपने बेटों के जीवन को सुधारने, सँवारने में हर सम्भव सहयोग करता है। वह जानता है कि पुत्र की खुशी और प्रसन्नता में ही मेरी भी खुशी समाहित है। अतः इस उपन्यास की घटनाएं एवं समस्याएं एक अंचल विशेष तक सीमित हैं। यह राष्ट्रीय रूप देने में असफल है। इस तरह यह एक आंचलिक उपन्यास है।

लक्ष्मण गायकवाड़ का मराठी उपन्यास 'उठाईगीर' में लातूर तहसील के 'धनेगॉव' नामक गांव तथा उसके आस-पास के गाँवों में जन्में जनजातियों के जीवन से जुड़ी समस्याओं, उनके रहन-सहन उनके खान-पान, उनके संस्कृति, अंधविश्वास, गरीबी, चोरी, तथा वर्दीधारी सरकारी तंत्रों द्वारा इन जनजातियों के शोषण का चित्रण किया गया है। इन जनजातियों में परम्परा के अनुसार कम ही उम्र में लड़कों या लड़कियों को चोरी सिखायी जाती है। "लड़का हो या लड़की, आठ-नौ वर्ष की आयु से ही हमारे जाति में उसे बेतहाशा पीटा जाता है, केवल इस उद्देश्य से कि आगे चलकर, चोरी करते समय या बाद में अगर पुलिस वाले उसे पकड़ ले और पीटने लगे तो उसकी जुबान से किसी और का नाम न निकले। इस कारण चोरियाँ करने की विधि सिखलाने से पूर्व मार खाने की शिक्षा हमारे यहाँ दी जाती है।"[2]

अर्थात ये चोरी की शिक्षा भारत के अन्य जातियों या जनजातियों में दी जाती हो ऐसा नहीं है।

---

1. आनन्द यादव – जूझ, पृ०सं० -213 भा०ज्ञा०प्र० प्र०सं०- 1999
2. उठाईगीर – लक्ष्मण गायकवाड़, पृ०सं० -12 साहित्य अकादमी प्रकाशन दिल्ली, प्र०सं०- 1999

इसी तरह से धनेगाँव के जनजातियों के रहन-सहन से जुड़ा यह परिवेश है : "हमारा घर बहुत ही छोटा था। उसमें सभी लोग चीलर की तरह भरे रहते। एक ही छप्पर के नीचे बकरियाँ भी बांधी जाती और आदमी-औरतें भी सोते। मैं और हरचंदा बकरियों के पास सोते जाड़े के दिनो में तो बहुत परेशानी होती। दोनों में एक ही चादर। हमारी इस एक चादर में कुत्ता भी घुस जाता। बकरियॉ पास में बंधी रहती। रात में वे पेशाब करती। उनकी पेशाब ठीक मेरे नीचे फैलती। बकरियों की वह गरम पेशाब जाड़े की उस ठंड में सुखद लगती। जाड़े से परेशान मैं, सोचता कि बकरियों लगातार गरम मूतती रहें ताकि ठंड तो न लगे।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस तरह की संस्कृति भारत के किसी अन्य अंचल की जातियों या जनजातियों में नहीं पायी जाती। इस तरह ये अँचल विशेष का रहन-सहन है इसका कोई देशव्यापी संदर्भ नहीं है। जनजातियों में व्याप्त अंधविश्वास निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है – "तूने अपने लड़के 'लक्ष्या' को स्कूल में भरती कर दिया है इसी कारण हमारे बच्चों को उल्टियाँ और टट्टी हो रही है। इसके पहले आज तक कभी इस बस्ती में हैजे की बीमारी नहीं आई थी। आज तक कभी कोई बीमारी नहीं हुई थी। बस्स ! तेरा यह लक्ष्या जैसे ही स्कूल में जाने लगा, इधर बीमारी शुरू। ... हमारी बिरादरी में आज तक क्या कोई स्कूल गया है?"[2]

अतः स्कूल में लक्ष्या के पढ़ने जाने मात्र से गाँव के बच्चों में उल्टी, टट्टी, हैजे की बीमारी का होना मानना उस अंचल में व्याप्त अंधविश्वास नहीं तो और क्या है? ये अँधविश्वास उस अंचल की जनजातियों में व्याप्त है। किसी अन्य प्रांत, क्षेत्र या जाति में ऐसी न मान्यता रही है और न है।

इस प्रकार मराठी उपन्यास उठाईगीर की एक बहुत बड़ी विशेषता उसका आंचलिक पक्ष है।

---

1. लक्ष्मण गायकवाड़ – उठाईगीर, पृ०सं० 16, भा०ज्ञा०प्र०, नई दिल्ली प्र०सं०–1999

2. लक्ष्मण गायकवाड – उठाईगीर, पृ०सं० – 20

व्यंकटेश दि० माडगूलकर का मराठी उपन्यास 'बनगरवाड़ी' में ऐसे गांव को केन्द्र बनाकर कथा का सृजन किया गया है जहॉ जाने के लिए उस गॉव में रास्ता नहीं है, विकास नाम का चीज नहीं है, उस गांव के लोगों में शिक्षा का अभाव तथा गरीबी के साथ-साथ उन लोगों में पिछडी मानसिकता पूरी तरह जकड़ी हुई है। इस उपन्यास में मानव मन की सूक्ष्माति सूक्ष्म तथा समिश्र प्रवृत्तियों का चित्रण, गँवई जीवन में मनोविश्लेषण की गहराई और सम्पूर्ण मानवीय आस्थाओं का जीवन्त रूप मुखर हुआ है। "बनगरवाड़ी में सभी आबादी गड़रियों की थी। ये लोग काले रंग के थे और हमेशा खुले-बदन घूमने वाले। बाहर की दुनिया से बिल्कुल अनजाने उन्हें यह भी ज्ञान न था कि बाहरी दुनिया से वे अनभिज्ञ हैं।"[1] अर्थात् इस उद्धरण में गड़रियों के पिछड़ेपन की झलक आती है। "सभी के घर माचिस की डिबिया न रहती; इसलिए स्त्रियां अपने दीये पड़ोसियों के दीयों से जलाकर लातीं और चूल्हा जलाकर गरमागरम रोटिआँ तैयार करतीं।"[2]

उपरोक्त उद्धरण में आर्थिक तंगी के बावजूद ग्रामीण परिवेश में पारस्परिक मधुर सम्बंध झलक रहा है, जो भारत के गाँवों में पडोसियों के बीच देखा जा सकता है।

"किसी-न-किसी लड़के की आँखें अवश्य आ जातीं, उसकी छूत से दूसरे लडके की आ जाती। ऑखें दर्द करतीं, तो लड़के रोते-तड़पते और उनकी महतारियाँ आँखें अच्छी होने के लिए, दूध से भींगा हुआ कपास सोते समय लड़कों की आँखों पर रखतीं। ग्राम देवी का मनौती मानतीं।"[3] यहाँ पर गँवई जीवन के अंधविश्वास की झलक महसूस होती है। आज भी भारत के हर गाँव में आँखों के आ जाने पर प्राथमिक उपचार हेतु दूध से भींगा हुआ कपास आँखों पर रखा जाता है, तथा इस

---

1. व्यंकटेश दि० माडगूलकर – बनगरवाड़ी, पृ०सं० – 26 भा०ज्ञा०प्र०, नयी दिल्ली
2. व्यंकटेश दि० माडगूलकर – बनगरवाड़ी, पृ० – 27
3. (व्यंकटेश दि० माडगूलकर – बनगरवाड़ी पृ०सं० – 30

प्राथमिक उपचार के साथ ही कोई-कोई माता देवी-देवता की मनौती भी कर लेती हैं। गँवई जीवन के विद्यालयों के बच्चों से जुड़ा है यह प्रसंग : – "बिना मुंह धोये, बदन मे कुरता पहनकर, सिर पर लाल रंग का कपड़ा लपेटे आते और गोबर से लिपि हुई जमीन पर एक-दूसरे से लड़ते हुए बैठे रहते। स्लेट-पट्‌टी पर पेन्सिलें कुरकुराने लगतीं। थूक से स्लेट साफ करने का क्रम चलता। बार-बार कोई-न-कोई लड़का छिगुनी दिखाकर बाहर चल देता। कुछ लड़के शाला की बाहरी दीवार से पत्थरों के पास पहुँच जाते और नोक बनाने के लिए अपनी पेन्सिलें उन पर घिसा करते।"[1] अर्थात् ये सारी घटनाएं आज की भारत के गाँवों के विद्यालयो में हर दिन घटित होती रहती हैं। ये सारी घटनाएं गरीबी के कारण या मॉ-बाप के अशिक्षित होने के कारण घटित होती हैं। इस तरह से उपन्यासकार ने महाराष्ट्र के एक छोटे से गाँव बनगरवाड़ी के बहाने अपने समय, समाज और कह सकते हैं समूचे भारत की समस्याओं और उन सबके बीच जीते भोगते ग्रामीण मनुष्य के बहुरंगी यथार्थ को अधुनातन संवेदना के साथ अभिव्यक्ति दी है। भारत की ढहती हुई सामंती व्यवस्था और उसके भीतर से उपजे खोखले आदर्श एवं तीखे यथार्थ का जीवंत चित्रण करता हुआ प्रभास कुमार चौधरी का मैथिल उपन्यास 'राजा पोखरे में कितने मछलियां' प्रेम, त्याग, समर्पण और कर्त्तव्य भावना के बीच नायक भास्कर के चरित्र की लम्बी संघर्ष-कथा है। भास्कर के मन में हमेशा यह जिज्ञासा बनी रहती है कि सत्य क्या है? मृत्यु क्यों होती है? भाग्य किसे कहते हैं? अन्याय या अत्याचार क्यों किया जाता है? मॉ हमें ही दूध पीने के लिए देती है चलित्तरा (दासी) के बेटे ठकना को क्यों नहीं देती? बहू-बेटियों, को लोग क्यों उठा ले जाते हैं? स्त्री इतनी आश्रित और पराधीन क्यों? पुरुष इतना स्वच्छंद और निर्लज्ज क्यों? ये और ऐसे प्रश्न उसके अंदर उत्तर पाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। भास्कर अपने आस पास के भ्रष्टाचार, अत्याचार और अपसंस्कारों की त्रासदियां भोगन के लिए विवश होता है। भास्कर की नियति उस व्यक्ति जैसी है जो एक स्वस्थ सुंदर समभाव वाला जीवन, समाज के आदर्श

---

1. व्यंकटेश दि० माडगूलकर – बनगरवाड़ी, पृ०सं० – 30

और यथार्थ को समरस देखना चाहता है। उपन्यासकार ने भास्कर के भोगे हुए जीवन और उसके चरित्र के बहाने भारतीय समाज में मानवीय मूल्यों और उसकी संवेदनाओं को उजागर किया है।

गोविन्द मिश्र का उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' का केन्द्रीय पृष्ठभूमि भारतीय मध्यवित (1940-90) वर्ग का घर है, जिसका पिछले पचास वर्षों में विघटन हुआ है। यह विघटन अपने समग्र परिवेश और संदर्भ के साथ चित्रमय रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहॉ पर संदर्भ से अभिप्राय प्रसंग विशेष या व्यक्ति विशेष की सांस्कृतिक राजनीतिक, सामाजिक स्थिति से है। तीन भागों में विभाजित इस उपन्यास के प्रथम भाग में 1940 से 1950 के बीच मध्यवर्गीय अभिजात परिवार के ढहते हुए घर को सम्भालने की कोशिश में लगे व्यक्तियों की व्यथा तो दूसरे भाग मे 1960 से 1975 के बीच 'पाँच आँगनों वाला घर' की पूरी विघटन कथा अपनी समग्र परिवेशीय पृष्ठभूमि के साथ उपस्थित है। बड़े घर के बटवारे से घर ही विघटित नहीं हुआ बल्कि मनुष्य का मन भी सिमट कर छोटा होता दिखाया गया है। जो आज के भारतीय परिवारों में देखने को मिलता है। तीसरे भाग में 1980 से 1990 का समय है जिसमें उस बड़े का एक छोटा परिवार भी खंड-खंड हो रहा है। घर एक व्यक्ति तक सिमट आया है इसका मुख्य कारण भौतिक सुखों में जीने की जिजीविषा है जो आज भारतीय समाज की नियति सी बन गयी है। 'पाँच आँगनों वाला घर' की सांस्कृतिक धरोहर से पूर्णतः अनजान व्यक्तियों की जीवन दशा का कारुणिक बोध होता है। यह तीसरी पीढ़ी है जिसमें अत्यधिक आत्मकेंद्रित व्यक्ति समूची भारतीय आध्यात्मिक परम्परा से वंचित होकर, उपभोक्ता संस्कृति के बहकावे में अस्मिता खो रहे हैं, केवल अपने भौतिक और ऐन्द्रिय सुखों की तलाश में धुरीहीन और दिशाहीन बनकर भटकने को बाध्य हैं। इस दिशाहीन दौड़ में वे ही लोग कुछ सार्थकता का अनुभव करते दिखते हैं जो 'पाँच आँगनों वाला घर' के मूल्यवान संस्कार आंशिक रूप में ही सही स्वीकार कर जी रहे हैं। जोगेश्वरी, शांतिदेवी, तवायफ कमलाबाई, नइकी चाची, राधेलाल, सन्नी, मोहन, भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के स्वस्थ परिवाहक हैं तो बाँके, रम्भो, बंटू, बिट्टो, छोटू नयी उभरती व्यक्ति

केन्द्रित, स्वार्थी भौतिक सुख-सुविधा में ही जीने की आकांक्षी संस्कृति के शिकार हैं। 'पाँच ऑगनों वाला घर' भारतीय संस्कृति और परम्परा को निभाता है और काल के अनुसार मिलने वाले थपेडों आघातो को सहता हुआ बरगद के सान्निध्य में स्थित हैं। अपने प्राचीन गौरव के अनुकूल सभी का आदर समेटे हुए इस बरगद से बच्चे भय भी खाते थे और इसकी छाया में आश्वस्त भाव से खेलते भी थे। भारतीय संस्कृति के छाया में पलने वाले समाज की तरह भय और आश्वस्ति को लेकर जीने वाले को बरगद छाया देता है।

पाँच आँगनों वाला घर' में अनगिनत कमरे है यहाँ पर चालीस लोगो का खाना बनता है। परिवार के सदस्य परम्परा के अनुशासन में रहकर सुखी जीवन जी रहे हैं, इसमे रहने वाले लोग अपनी प्रवृत्ति और शक्ति के अनुसार काम कर रहे हैं। कुछ निकम्मे भी रहे हैं जो आज भी भारत के संयुक्त परिवारों में देखा जा सकता है। 'पाँच आँगनों वाला घर' में संगीत की मजलिसें भी होती हैं, मुशायरे होते हैं, मुजरे होते हैं, संक्रांति, होली जैसे त्योहार एवं उत्सव प्रसन्नतापूर्वक मनाये जाते हैं। यहाँ सब बच्चे, सबके बच्चे बनकर जी रहे हैं, प्यार और सुरक्षा पा रहे है। परिवार में बड़ों का लिहाज है तो छोटों को प्यार भी मिलता है। स्त्रियों का पुरुषों के साथ तथा स्त्रियों का स्त्रियों के साथ संबंध पारंपरिक नियमों के अनुसार बिना किसी चुभन के निभ रहा है। सबका एक सांझा मंदिर है, सौरी घर है, चूल्हा एक है। खोमचे वाले से सभी बच्चों को सुबह एक ही प्रकार का नाश्ता मिलता है। त्योहारों पर खाना भी साथ बैठकर खाने में कोई परहेज नहीं है। भाईचारे की भावना को व्यक्तिकता की अस्मिता के काँटों ने बिद्ध नहीं पाया था। जीने और जीने देने की, दूसरे के साथ बांट कर भोगने की, दूसरे के दुःख में मनपूर्वक भागीदारी करने की, स्वार्थत्याग करते समय स्वभाव से अकुंठित भाव से सक्रिय होने की शिक्षा 'पाँच आँगनों वाला घर' में सहज विरासत में मिली है जो आज भारतीय सम्मिलित परिवार की विशेषताएं हैं।

पाँच आँगनों वाला घर को बाहर और भीतर से आघात सहन करने ही पड़ते हैं। भले घर की

बेटी जोगेश्वरी ने अपने सम्पन्न मायके से आकर ढहते ससुराल को अपनी प्रबंध कुशलता और स्नेह से सम्पन्न स्थिति में ला दिया अपने गजेड़ी और निष्क्रिय पति के बावजूद घर के सभी सदस्यों को जोड़ा ताकि सब थोड़ा-थोड़ा कमायें और साथ रहें। इस प्रकार जोगेश्वरी एक भारतीय नारी के कर्त्तव्य का पालन करते हुए पति के मृत्यु के बाद विधवापन को सहज रूप में ढोते हुए घर को अपने कौशल से संभाला। अपने बड़े पुत्र राधेलाल की वकालत पर अधिकांश रूप में निर्भर परिवार को बिखर जाने से बचाया। बाहर परिवार की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा। लेकिन स्वतंत्रता संग्राम और महात्मागांधी की कांग्रेस ने राधेलाल को अपने तरफ आकर्षित कर लिया। राधेलाल नेकदिल देशभक्त, कलाप्रिय एवं भावुक व्यक्ति थे। वे देश की पुकार को अनसुनाकर आत्मकेंद्रित नहीं रह सके, क्योंकि संयुक्त परिवार की संस्कृति ने उन्हें आत्मकेन्द्रित होना सिखाया नहीं था।

दूसरे भाग की दीवारें (1960-75) बड़े घर के बटवारे के बाद सदस्यों में उग आयी दीवारों की करुण कथा है। स्वाधीनता के बाद पैदा हुआ राजन के विवाह के प्रसंग से दूसरा भाग प्रारम्भ होता है क्योंकि बटवारे के पहले संयुक्त परिवार में मनाया गया यह अंतिम उत्सव है, फिर बँटवारे में जहाँ-तहाँ छोटी-बड़ी दीवारें उग आयी थी। ये दीवारें घर की थी उसी तरह मन की भी थी। क्योंकि जो राजन के साथ खेले थे उनके और राजन के बीच एक दूरी उग आयी थी। जो आज के विखंडित परिवारों में आसानी से देखा जा सकता है।

सम्मिलित परिवार का एक अपना खास संस्कार था। हर व्यक्ति निःस्वार्थ बलिदान की भावना को खून में पालता था और वह भावना किसी भी बड़े स्वप्न के लिए खाद जैसी थी। वह संस्कार ही हमारी मानसिकता से गायब हो गया। उपन्यास में इस बात को रेखांकित कर यहाँ एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य पर कह सकते हैं कि भारतीय मानसिकता के मर्म स्थल पर उँगली रखी गयी है, इसलिए यह उपन्यास मूल्य दृष्टि की सम्पन्नता की ऊँची सीढ़ी पर विद्यमान है।

उपर्युक्त संस्कारों के विपरीत रम्मों के व्यक्तित्व में जो जीवितेष्णा है। वह जीवन को भरपूर जीने,

बूंद-बूंद उसका रस निचोड़ने की बेचैनी में व्यक्त होती है। यही अकेले भोग की, न बॉटते हुए भोग की जीवितेष्णा रम्मों के तीनों बच्चों में बहती है। राजन को अपनी मूलधारा से काटकर अपने साथ बहा ले जाती है। राजन भीतर से कैसे धीरे-धीरे बदलता जा रहा है अपनी अंतरात्मा के कचोट के बावजूद इसका बड़ा ही प्रभावपूर्ण चित्रण गोविन्द मिश्र ने किया है, जो एक तरह से प्रतीकात्मक भी है क्योंकि मध्यवर्ग की मानसिकता को शक्तिशाली ढंग से वह प्रतिबिम्बित करता है। खतरनाक बात यह है कि यह मध्यवर्ग भारतीय मानस को बुरी तरह से प्रभावित कर रहा है। अपनी राह साफ करते हुए जीवन मूल्यों की बलि देते हुए निर्मम दौड़ और होड़ आज भारतीय मध्यवर्ग के संस्कारों का एक सड़ियल हिस्सा बनता जा रहा है। इसलिए यह उपन्यास न केवल मौजूदा मध्यवर्ग का बल्कि आज के समूचे समाज की मानसिकता का दस्तावेज बन गया है।

मृदुला गर्ग के उपन्यास कठगुलाब, बांझ का प्रतीक है। कठगुलाब को ना तो जीवन से नकारा जा सकता है, ना जीवन के मोह से। वह काष्ठ का ऐसा फूल है जो अपनी उत्पत्ति के साथ ही अपने विनाश का कारण भी है। फिर भी उसका फूल है जो पनपता है लहलहाता है, खिल उठता है। मनुष्य के भीतर और बाहर की दुनियां का स्पष्ट संकेत करता हुआ मृदुला गर्ग के उपन्यास कठगुलाब मानव जीवन के गहन अध्ययन का प्रतिफलन है। वैश्विक भूमि पर स्त्री-पुरुष, शोषक-शोषित के संबंधों की साम्यता लिंग भेद पर अवलंबित है। संसार के सारे पुरुष स्त्रियों को लेकर एक ही तरह का विचार रखते हैं परन्तु अमल में लाते हैं अपने-अपने तरीके से। स्त्रियां शोषण को समझने लगी हैं। फिर भी उससे सामना करने का सभी स्त्रियों का अपना तरीका है। इस भेद के मध्य में उपन्यास का एक मात्र पुरुष पात्र बिपिन खड़ा है। उसे चुपचाप समर्पण करने वाली स्त्रियां तेजहीन नजर आती हैं। वह असीमा से प्रभावित होकर पुरुष होते हुए भी स्वयं गर्भधारण करने का इच्छुक हो उठता है। विपिन मनुष्य होने और विधाता के सृजन के प्रति आस्थावान है।

सम्पूर्ण उपन्यास में एक भी सलामत परिवार नहीं है। छिन्न-भिन्न एकाकी, नीरव, दुःखदायी,

बंजर होते जीवन का प्रतिनिधित्व हर पात्र करता है। प्रत्येक पात्र अपने अतीत को काटकर फेंक देना चाहता है। परन्तु अगले ही कदम पर वह अपने अतीत से उलझ जाता है। बिपिन विवाह नहीं करता परन्तु स्त्रियों के सम्पर्क में है वह असीमा से जुड़ना चाहता है, स्मिता के लिए अनुराग पनपता है। अपने से आधी उम्र की नीरजा और उसके बीच बच्चों को जन्म देने का समझौता होता है। यह समझौता बिल्कुल मशीनी औद्योगिक उत्पादन जैसा है। लेकिन बिपिन और नीरजा के बीच बिना शादी के बच्चे का जन्म् देना भारतीय समाज के लिए न तो स्वीकार्य है और न ही किसी भारतीय नारी को स्वीकार हो सकता है। इस तरह की मान्यताएं भी भारतीय समाज में न रही है और न है। लेकिन पश्चिम के देशों के बारे में क्या सत्य है कहा नहीं जा सकता। सृष्टि के बिधाता का कुछ निर्णय भी ऐसा ही होता है कि नीरजा मां नहीं बन पाती। जहाँ वैज्ञानिकता और बौद्धिकता असहाय और पंगु से हो जाते हैं। बिपिन बच्चे का मोह छोड़ देता है। देह सम्बन्ध को मशीनी निर्माता की तरह नहीं स्वीकार कर पाता अब वह नीरजा के साथ बिना बच्चे के जीवन बीताने को तैयार है। भारतीय समाज के लिए यही मानवीय प्रेम संवेदना शाश्वत सत्य है। सारे संसार की आधुनिकता, प्राचीनता, अमेरिका, भारत सभी की सीमा काल से मुक्त लेकिन जीवन से जुड़ा है जिसकी अनिवार्यता अनंत आदिकाल से रही और अनंतकाल तक रहेगी। आज मनुष्य अपने बौद्धिक आतंक से हृदय पर कब्जा करना चाहता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति असंतुष्ट नजर आता है। इस उपन्यास का पुरुष पात्र बिपिन कहता है कि – ''मैं कब से महसूस कर रहा हूँ कि ऐसे जीवन का मूल्य नहीं है जिसमें निःस्वार्थ, निष्कलुष प्रेम का एक क्षण भी न रहा हो।'' बिपिन के इस विचार से ये बात स्पष्ट है कि हर पुरुष को चाहे वह भारत का हो या अमेरिका का सभी को किसी भी स्त्री से निःस्वार्थ, निष्कलुष भाव से प्रेम करना चाहिए। लेकिन ऐसा न तो भारत के पुरुषों में और न ही अमेरिका के पुरुषों में दिखाई देता है। आज का समाज पूरी तरह स्वार्थ के दलदल में फंसा हुआ है। शायद प्रेम के इसी अभाव की पूर्ति के लिए बिपिन बच्चा चाहता है। मृदुला गर्ग उच्च जाति के पुरुषों को संवेदना शून्य मानती है। मृदुला गर्ग का मानना है

कि "उच्च जाति के भारतीय पुरुष से ज्यादा संवेदन शून्य इंसान पूरी दुनिया में ढूंढ़े नहीं मिलेगा। उस खाये पीये मर्द को शारीरिक पीड़ा के अलावा कभी कोई दुःख नहीं उठाना पडता, न उसे बच्चे से गहरा लगाव होता, न बीबी से। माँ-बाप की देखभाल के लिए वह एक अदद बीबी ले ही आता है। सामाजिक अपमान या आर्थिक अभाव उसे झेलना नहीं पड़ता। पारिवारिक पीड़ा वह बीबी के जिम्मे कर देता है। बाकी क्या बचा? केवल उसका खुद का शरीर किस्मत से वह तगड़ा सेहतमंद हुआ तो कोई गम पास नही फटकता। उसकी तमाम ऊर्जा कार्य क्षेत्र की उठा पटक वास्तविक या काल्पनिक प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ने में लग जाती है। वह गम पालता है तो दूसरों की तरक्की का, उत्सव मनाता है तो उनकी हार का फिर संवेदन शक्ति विकसित हो तो कैसे?"[1] लेकिन बिपिन इस संवेदन शून्यता को केवल पुरुषों का सच नहीं मानता। वह कहता है – "पुरुषों की दौड़ में शामिल होकर ये शिक्षित सम्पन्न सफल स्त्रियां भी संज्ञा शून्य हो चुकी है रोबोट की तरह यांत्रिक हरकतें करके दैनिक कामकाज को पूरा कर सकती थी पर महसूस कुछ नहीं कर पाती इस जड़ता को तोड़ने के लिए अपार धीरज की जरूरत थी। धीरज के साथ साधी गयी गहरी संवेदना शक्ति की।"[2] इसी गहरी संवेदन शक्ति के साथ असीमा, स्मिता ने गोधड़ गुजरात को अपना कार्य क्षेत्र चुना। कृषि और प्रौढ़ शिक्षा की संस्था का नामकरण हुआ कुटुंब। बिपिन भी वही पहुँचता है। संतान न पैदा करने से कोई बांझ नहीं हो जाता बहुत कुछ है जिसका सृजन स्त्री पुरुष दोनों ही कर सकते हैं।जरूरत है पाने की अर्थात् संवेदन की इस संवेदना को पाकर प्रत्येक बंजर भूमि बंध्य कष्ठ गुलाब खिलेगा अवश्य खिलेगा खिल उठेगा 'झन्नन् हुम्म'।

इस प्रकार मृदुला गर्ग का नारी विषयक निष्कर्ष यह है कि स्त्री चाहे भारत की हो या अमेरिका की, उच्च वर्ग की हो या निम्न वर्ग की, पुरुष द्वारा श्रम और सेक्स दोनों रूपों में देह शोषण उसकी

---

1. अक्षरा – प्र० सम्पादक गोविन्द मिश्र, पृ सं० – 95, 96 (अक्टूबर-दिस्मबर - 2000)

2. अक्षरा – प्र० सम्पादक गोविन्द मिश्र, पृ सं० – 96 (अक्टूबर-दिस्मबर - 2000)

नियति है। फिर नारी-मुक्ति की दिशा क्या है? क्या यह मुक्ति उग्र नारीवाद में है जहाँ स्त्री, पुरुष को नर सूअर के रूप में देखती है या नारी के उस स्वाभिमान और स्वावलम्बन के मार्ग में जहाँ वह आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अपने पैरों पर पूरी तरह से खड़ी रहकर भी अपना सन्तुलन नहीं खोती और उन मूल्यों की रक्षा करती है जो मनुष्य मात्र को सहज जीवन प्रदान करते हैं।

अनित्य में मृदुला गर्ग स्त्री-पुरुष सम्बंधों की दुनिया से बाहर निकलकर अतीत और वर्तमान के अपेक्षाकृत व्यापक संसार मे प्रवेश करती है। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय सन् 1930-60 की भारतीय राजनीति है। लेखिका के अनुसार गाँधीजी के नेतृत्व में चलने वाला स्वाधीनता संग्राम बुर्जवा समाज के हितों का आन्दोलन था। मृदुला गर्ग की सहानुभूति हिंसात्मक क्रान्ति के पक्ष मे है जो भारत में नहीं हुई और उनके अनुसार यही आजादी के बाद भारत के पिछड़ेपन और आर्थिक वैषम्य का कारण है। यह राजनीतिक मूल्यांकन ऊपर से विश्वसनीय लगने पर भी दरअसल सतही किस्म का है। भारतीय राजनीति में साम्यवादी और क्रांतिकारी दलों की असफलता का मुख्य कारण यह था कि वे जन समुदाय से कटे हुए थे। बुर्जुवा वर्ग से जुड़े होकर भी गांधी जी जनता को अपने साथ ले चलने में सफल हुए थे। भारत की आजादी मिलने के बाद सत्ता बुर्जुवा वर्ग के हाथ में चली गयी और साम्यवादी दल अपनी संकीर्ण दृष्टि के कारण भारतीय जनता को विरोधी शक्ति के रूप में बदलने में असमर्थ रहा, पर मृदुला गर्ग इस यथार्थ का सर्जनात्मक रूप में उद्घाटन नहीं कर सकी हैं परन्तु इतिहास और व्यक्ति के यथार्थ को समानान्तर रूप में प्रस्तुत करने की अच्छी कोशिश की है।

जिन उपन्यासकारों ने ग्रामीण अंचल को अपने कथ्य के रूप में चुना उनमें हिंदी के शैलेश मटियानी, शिव प्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, मैत्रेयी पुष्पा, श्रीलाल शुक्ल, विवेकी राय पंजाबी के गुरदयाल सिंह, मराठी के आनंद यादव, व्यंकटेश दि० माडूलकर, गुजराती के भोलाभाई पटेल, बँगला के सतीनाथ भादुड़ी, आशापूर्णा देवी, असमीया के होमेने बरगोहाई, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य तमिल के तोफिल मुहम्मद मीरान, आदि हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के उपन्यासकार प्रमुख हैं। आजादी मिलने

के बाद ग्रामीणों ने अपने सुखमय जीवन का एक स्वप्न देखा था। ग्रामीण किसानो और खेतिहर मजदूरों ने समझा था कि आजादी के बाद जमींदारों और भूमिपतियों का शोषण और अत्याचार समाप्त हो जायेगा, उन्हें भी खेती और आवास के लिए जमीन प्राप्त होगी। शिक्षा, जीविका के साधन और स्वास्थ्य सुविधाएं मिलेगी। सरकारी कर्मचारी उनकी सेवा के लिए होगे। आजादी की लडाई मे उनका नेतृत्व करने वाले नेतागण देश के विकास कार्यों में अपना योगदान देंगे। लेकिन ऐसा हुआ नही। दशक पर दशक बीतता गया, सपना टूटने लगा, विदेशी शासन और जमींदारी प्रथा का अंत तो हो गया पर किसानों का सामंती और महाजनी शोषण थोड़े बदले रूप में बना ही रहा। कुछ पुराने जमींदार, कुछ भूमिपति, और महाजन वेश बदलकर यहां तक कि कुछ मध्यवर्गीय समाज के विकृत और साम्प्रदायिक मानसिकता वाले लोग राजनीति में शामिल हो गये और संसद, विधान सभाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं में प्रवेश कर आम जनता का पूर्ववत् शोषण करते रहे। सामुदायिक विकास योजना, सरकारी तंत्र के भ्रष्टाचार के दलदल में डूब गयी और गाँव ज्यों का त्यों पिछड़ा रह गया। कृषि, शिक्षा, स्वास्थ, यातायात के क्षेत्रों में विकास नाममात्र का ही हो पाया। मैदानी हिस्सों में बाढ़ और सूखा का प्रकोप पहले जैसा ही बना रहा।

पर्वतीय अंचलों में विकास के नाम पर कुछ भी नहीं हुआ। जीविका की तलाश में इन क्षेत्रों से युवकों का नगरों में पलायन होने लगा। राजनीतिक चुनावों से राजनीतिक चेतना उतनी नहीं जगी जितनी की जातिवाद सम्प्रदायवाद और क्षेत्रवाद की भावना लोगों में पनपी। गाँवों का परम्परागत ढाँचा बिगड़ गया। प्रेम, सद्भाव और भाईचारे के मूल्य नष्ट हो गये। पुराने मधुर सम्बन्धों में चिटकन पड़ गयी, पूरी परम्परागत ग्राम-व्यवस्था जड़ से हिल गयी और उसका कोई स्वस्थ विकल्प निर्मित नहीं हो पाया। इस यथार्थ की विश्वसनीय और कलात्मक अभिव्यक्ति आज के भारतीय उपन्यासों में संजीदगी से हुई है। शैलेश मटियानी ने अपने उपन्यासों में कुमायूं गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्र के ग्रामीणों के अभाव और कष्टपूर्ण जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है, जो एक अंचल विशेष से जुड़ा हुआ

है। शैलेश मटियानी की विशेषता है उनकी पहाड़ी क्षेत्र की स्त्रियों और दलितो की पीडा का अंकन। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के अमानवीय देह-शोषण का इतना करुण तथा पीड़ादायी चित्रण शायद ही कही मिले एक प्रकार से देखा जाय तो शैलेश मटियानी पर फणीश्वर नाथ 'रेणु' का प्रभाव हल्के नशे के रूप में विद्यमान है पर उससे उसकी पहचान धूमिल नहीं हुई है। शैलेश मटियानी ने अपने उपन्यास 'गोपुली गफूरन' में 'गोपुली' के रूप में ऐसी नारी का चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें स्त्री की अदम्य जिजीविषा, आत्मविश्वास, संघर्ष की अद्‌भुत क्षमता है। गोपुली नारी की कमजोरी का प्रतीक है, नारी की दृढ़ता, सहनशक्ति और ममता की प्रतीक भी है गोपुली। नारी की कमजोरी यह है कि वह पुरुष के सामने अपना आत्मसमर्पण कर देती है। वह अपने गर्भ पर अभिमान नहीं कर पाती। परम्परागत भारतीय समाज में नारी संहिता के विरुद्ध गर्भधारण उसके लिए अभिशाप बन जाता है। पुरुष समाज द्वारा थोपे गये नियमों से वह लड़ नहीं पाती। आज भारतीय पुरुष प्रधान समाज में नारी की यही नियति बन गयी है। गोपुली अपने जुझारू आत्मविश्वास से भरे चरित्र के बावजूद पुरुष समाज द्वारा प्रवंचित होती है, पर वह हार कभी नहीं मानती। दलित समाज की स्त्री होने पर भी गोपुली के चरित्र में जो तेजस्विता है वह अनूठी है। उसमें कुंठा नहीं है, पराजय का भाव नहीं है। वह न डरती है, न हारती और न ही खरीदी-बेची जा सकती है। उसकी ऊपर से दिखाई देने वाली हार में ही जीत है। उसके चरित्र में भारतीय स्वरूप में एक आदिम नारी और मां का रूप पूरी तरह से विद्यमान है। शैलेश मटियानी का ही एक दूसरा उपन्यास 'बावन नदियों का संगम' वेश्या जीवन की जबरदस्त कहानी है। इसमें देह व्यापार करने वाली वेश्याएं, धन्धा चलाने वाली वेश्याएं और उस धन्धे के दलाल शामिल हैं। उपन्यासकार ने वेश्याओं और उनके दलालों की त्रासद जिंदगी का मार्मिक चित्रण किया है। पतित माने जाने वाल समाज का नग्न और कटु चित्रण तो है ही साथ ही शरीफ कहे जाने वाले समाज की वेश्यापरस्ती का भी चित्रण किया गया है। इस भद्रलोक में नामी वकील, सम्भ्रांत नेता, मिनिस्टर, फर्जी संस्थाओं के छुटभैये नेता, कम्युनिस्ट कांग्रेसी हैं, – जो आज के भारत के सम्भ्रांत

लोगों के भ्रष्टाचार और विकृत मानसिकता का पोल खोलता हुआ प्रतीत होता है। भारतीय नारी के भोग्या होने और उसके बीच अपनी अस्मिता सुरक्षित रखने के नये आयामों की तलाश है यह उपन्यास।

महाश्वेता देवी का बँगला उपन्यास 'सच-झूठ' हमारे भारतीय समाज में नवधनाढ्य वर्ग की विकृत मानसिकता को उजागर करता है। इस उपन्यास में एक ऐसे नवधनाढ्य वर्ग का चित्रण किया गया है जो घर मकान छोड़कर प्रमोटरों द्वारा बनवायी गयी बहुमंजिली इमारतों के फ्लैटो में कई-कई मंजिलों में बसते हैं। इन फ्लैटों की सजावट उनके धन के प्रदर्शन का साधन है; लेकिन इन बहुमंजिली इमारतों के पार्श्व में एक पुरानी बस्ती का होना भी आवश्यक है। वह बस्ती न रहे तो फ्लैटों में बसने वाली मेम साहबों की सेवा के लिए दाइयाँ नौकरानियाँ कहाँ से आयें? फिर इन दाइयों की साहबों को भी तो जरूरत रहती है। मेम साहबों की गैर मौजूदगी में बर्बर शरीर और उद्धत यौवन से परिपूर्ण ये युवती दाइयां साहबों की वासना के काम आती हैं। ऐसी ही एक दाई यमुना और धनिक साहब अर्जुन के चारों ओर घूमती यह कथा भारतीय नव धनाढ्यों के जीवन के गुप्त रहस्यों का पर्दाफाश करती है जहाँ गरीबों का शोषण आर्थिक के साथ-साथ शारीरिक भी होता है। आज पुरुष प्रधान समाज में औरतों को रुपये का गुलाम समझा जाता है जिसका बॅगला उपन्यास 'सच-झूठ' प्रमाण है।

पंजाबी उपन्यासकार 'गुरदयाल सिंह की दृष्टि अभावों में जीते संघर्षरत मस्त लोगों पर जाती हैं लेकिन परम्पराओं की जकड़न या भय में जीने वाले साधारण लोगों से बहुत आगे जा कर ठहरती हैं। अब वे चाहे पंजाबी उपन्यास 'घर और रास्ता' का पात्र बिशना और दयाकौर हो, 'परसा' का परसा या मुख्तयार कौर हो, 'मढ़ी का दीवा' का जगसीर या भावी हो या फिर 'अध चाँदनी रात' का मोदन और 'सांझ-सबेरे' का दसौधा सिंह हो। वे सभी पात्र सुसंस्कृत, सुसभ्य या पढ़े-लिखे लोग नहीं है। वे एकदम सीधे सादे निर्भय एवं निपट गंवार है। वे व्यक्ति है, आदमी है। समूह से उनका कुछ लेना देना नहीं है। वह जाँबाज है। अंधविश्वासों और टोनों-टोटकों की जकड़न से मुक्त लोग, उन्हें न तो

मृत्यु डराती है और न ही जीवन के बीहड़ों से वे भयभीत होते हैं। लेकिन ऐसे लोग हैं जो मन को बेहद उदास कर डालते हैं। यह उदासी भी अजीब है, लेकिन उदास होना भी गुनाह नहीं है, जीवन के लिए दार्शनिकता भी जरूरी है। गुरुदयाल सिंह के व्यक्ति इस कर्त्तव्य से कभी नहीं चूकते। वे अपने अधिकार को याद रखते हैं और अपने दुःखों में मस्त रहते हैं। सामाजिक पिछड़ापन, सांस्कृतिक सुस्ती बौद्धिक दिवालियापन और भाषा का खालीपन सभी परस्पर गुँथे हुए हैं। यानी यह एक ही यथार्थ की कई शाखाएं हैं जिन्हें पकड़ना आसान नहीं है। इन सब में अहम भाषा है, जो उस पिछड़ेपन, सुस्ती और दिवालियेपन पर चारों ओर से वार नहीं करती बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को बनाती भी है। ''व्यक्तियों से राष्ट्र का निर्माण होता है यानी राष्ट्र की पहचान व्यक्तियों से ही है। व्यक्ति अपनी भाषा से ही ज्ञान करवाता है कि वह कब पैदा हुआ, कौन से समय में जिया और कब, कैसे और क्यों मरा?''[1]

गुरुदयाल सिंह का मानना है कि समतामूलक समाज में सपने को पूरा करना है तो हिंसा को एकदम खारिज किया जाना सम्भव नहीं है। गुरुदयाल सिंह ने पंजाबी समाज को आत्मालोचन के इसी चश्मे से देखा है। गुरुदयाल सिंह समाज में उपलब्ध छोटे नायकों से ही काम निकालते हैं। आज के वक्त की व्यवस्थागत विकृतियों में यही सम्भव है और अनिवार्य भी। मानवता की भावनाएं व उसकी मूल प्रवृत्तियां ही व्यक्ति की प्रकृति का निर्माण करती है। मूलभूत सुविधाओं से बंचित व्यक्ति अपने जीवन को बचाए रखने के लिए छोटी-मोटी हिंसा के अतिरिक्त कर भी क्या सकता है? वह भलीभाँति जानता है कि व्यवस्था की हिंसक जकड़ के आगे वह एकदम अदना है। फिर भी कहीं न कहीं उसे इससे टकराना ही होगा तथा इसी व्यवस्था के हाथो मारा जाना भी होगा। इसके अतिरिक्त कोई चारा शेष नहीं बचता। पंजाबी उपन्यास 'परसा' में बसंता अपनी मंगेतर के खो जाने पर उस मास्टर की बाँह काट लेता है जो उसकी मंगेतर का पति होने वाला है, और परसा का पुत्र इस कृत्य को कोसने के बजाय पुलिस के सामने उसका भरापूरा समर्थन करता है।

---

1. पल-प्रतिपल – सित०-दिस०-1999 पृ० –30

गुरदयाल सिंह का पंजाबी उपन्यास 'अध चॉदनी रात' में पूरा का पूरा हत्या का ही दर्शन है। 'घर और रास्ता' में दयाकौर अपने दुश्मन से बदला लेने के लिए ही खेलती है। 'अध चाँदनी रात' मे ऐसे ही रुलदू ने बूढ़े से अपनी बात का हुंकारा भरने के लिए सिर हिलाकर कहा – ''ले भई उसने अपना बदला लेकर कौन सी बुरी बात की? बदला तो मर्द-बच्चे लेते आये ! यह कोई नयी बात है, हैं? तू सोच तो सही पगले, उनके साथ इन लोगों ने कोई कसर छोड़ी थी? बेचारो का बुरा हाल कर दिया था ....।''[1] ''जब आदमी का धरम ही ना रहा इज्जत ही न रही, अनख ही ना रही, तो जायदादों को वह हथेली पर रखकर चाटेगा''[2] और तो और ग्रामीण पंजाब में आज भी लट्ठ-पिस्तौल को वहाँ की सांस्कृतिक विरासत के रूप में लिया जाता है। परसा उपन्यास में तुल्ही जब बसंते के लिए पिस्तौल बनाकर देता है तो उसका कथन विचारणीय है: ''खड़का-दड़का किया कर मरदों की तरह''[3] यानी पंजाब में पुरुष होना स्वयं में ही कहीं न कहीं हिंसा से ऐसे जुड़ा है जो समतामूलक समाज के सपने को पूरा करता है जिसके लिए हिंसा को एकदम बर्ख़ास्त किया जाना सम्भव नहीं है।

स्वाभिमान, पंजाब के गॉवों का सर्वोत्तम गुण माना जाता है और पैतृक बदला लेना मर्दानगी। बिशने के अंदर स्वाभिमान की एक विरल और उदात्तधारा है जो एक ओर व्यवस्था के अहम् और दुरूहताओं को नकारती है तथा दूसरी ओर समाज की विडम्बनाओं जैसे – जात-पाँत आदि की दीवारों को ध्वस्त कर डालती है। 'अध चाँदनी रात' में भी यह स्वर प्रखरता से मुखर हुआ है।'' अध चाँदनी रात का मोदन, धणे का कत्ल करके जाट की परम्परा को निभाता है लेकिन मोदन का भाई धणे के बेटों के साथ व्यापार करता है। बाजार में यही होता है। पैसा प्रधान और यह व्यापार उस

---

1. गुरुदयाल सिंह – अध चाँदनी रात, पृ० सं० – 48
2. गुरुदयाल सिंह – अध चांदनी रात, पृ०सं० – 49
3. गुरुदयाल सिंह – परसा, पृ०सं० – 75

समय से चालू है जब पारिवारिक दुश्मनी को अंजाम तक पहुँचाने के बाद मोदन जेल के सलाखों में है।"[1]

दृष्टव्य यह है कि "गुरुदयाल सिंह के औरत पात्रों की खूबी है कि वे अपनी समस्त चेतना में वे निर्भय है कुंठित नहीं है जब प्यार करते हैं तो बनी-बनाई कई लीकों को ध्वस्त कर डालते है और जब घृणा करते हैं तो परम्पराओं को धूल धूसरित कर डालते है। परसा मे सबसे उदार चरित्र मुख्तयार कौर का है। परसे के साथ उसके प्रेम की शारीरिक परिणति कितने ही खोखले संस्कारों को राख कर डालती है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' की तरह दयाकौर, भानी और मुख्तयार कौर हमेशा अपने प्रेमियों के लिए प्रेरणापुंज की तरह मौजूद रहती हैं। वे दबंग औरते हैं न किसी से वह बेवजह डरती हैं और न ही बेवजह किसी को डराती हैं। जब प्यार करती हैं तो अपना सर्वस्व न्योछावर कर डालती हैं और जब बदले पर आती हैं तो अपने अस्तित्व को ही दांव पर लगा डालती हैं।"[2] भानी और मुख्तयार कौर के संदर्भों पर गहराई से विचार किया जाय तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि – "औरत को अपने और उससे आगे अपने भौतिक संबंधों की स्वीकार्यता के लिए व्यापक नैराश्य, निरपेक्षता और गर्व जुटाना अनिवार्य है। यह एक तर्पण का प्रतिफलन है जो पावन परम आनंद में रूपांतरित होता है। व्यक्ति इस स्थिति को प्राप्त कर अपने भीतर की आवाजों से डरना बंद कर देता है।"[3]

मुख्तयार कौर की शारीरिक जरूरतें उसे हर परम्परा और वंचना की दीवारें तोड़ डालने का साहस देती है वहीं परसा उसके साथ अपने प्रेम सम्बन्ध को कर्त्तव्य के स्तर पर भी लेता है। अध

---

1. पल-प्रतिपल – सित०दिस० 1999 पृ०सं० 33
2. पल-प्रतिपल – सित०दिसं० 1999, पृ०सं० 34-35
3. पल-प्रतिपल-संपादक-देश-निर्मोही सित०-दिस० 1999 पृ०सं० 35

चॉदनी रात में मोदन उस प्यार को कभी नहीं पा सका जो 'घर और रास्ता' के विशना और दयाकौर के बीच पति-पत्नी के रूप में मौजूद है।"[1]

सामाजिक आदर्श इतिहास व वातावरण की स्थितियों के अनुसार अलग-अलग होते हैं। पाषाण, कृषि व उद्योग मानव सभ्यता की तीन क्रमिक परिस्थितियां, जिनमें से ग्रामीण पंजाब अभी तक कृषि में ही जीता है। इसलिए उद्योग जगत में जीने व प्यार करने के जो भी आदर्श गढ़े गये हैं उन्हें इस पर लागू किया जाना संभव नहीं है। पंजाब की गंवई संस्कृति में औरत भले ही एक वस्तु रहती आई हो लेकिन गुरुदयाल सिंह उसे एक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर डालने के संकल्प में ही लेखनी उठाए हुए हैं। समाज की नैतिकताएं उसके प्रेम के सूत्रों को तोड़ पाने में असफल रहती हैं। प्रेम कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे खांचे में बाट कर महसूस किया जा सके यानी बिवाह के पहले प्रेम और विवाह के बाद दूसरा वर्जित प्रेम। प्रेम तो प्रेम है जो परिस्थितियों की नैतिकताओं से उद्भूत नहीं है। इसीलिए हमेशा चॉद उदासी का राग लेकर आता है?"[2]

गुरुदयाल सिंह की सोच प्रक्रिया में नारी केवल इसलिए आदरणीय नहीं है क्योंकि स्त्री होने के नाते उसे अतिरिक्त सहायता की जरूरत है, बल्कि इसलिए है कि वे समझते हैं उसमें पुरुष के मुकाबले सृजन की अधिक संभावनाएं हैं। इसमें प्रेम जैसा भाव भी शामिल है। अलवत्ता प्रेम की पंजाब की ग्राम्य धारणा किसी अलौकिक भाव से न होकर मन व शरीर से ही सीधी उद्भूत है।

विवेकी राय के उपन्यास 'समर शेष है' एक विक्षोभकारी विजन पर आधारित उपन्यास है। इस विजन के केन्द्र में पूर्वांचल के किसान-मजदूर हैं, जो लम्बे समय तक शोषण और अन्याय का शिकार होते रहे हैं लेकिन अब संघर्ष की मुद्रा में तनकर खड़े हो रहे हैं। मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी क्रांतिकारियों के नेतृत्व में किसान-मजदूर ने भूमिपतियों तथा शोषण और अन्याय पर आधारित व्यवस्था के खिलाफ

---

1. पल-प्रतिपल-संपादक-देश-निर्मोही, सित०-दिस० 1999 पृ०सं० – 36

2. पल-प्रतिपल-संपादक-देश-निर्मोही, सित०-दिस० 1999 पृ०सं० – 36

संघर्ष छेड़ दिया है। इस उपन्यास की सबसे आकर्षक विशेषता यह है कि उसके विजन के केन्द्र में गाँव की एक कच्ची सड़क है जो किसी अर्थ में उपन्यास की नायिका भी है। यह सडक पूर्वांचल के पिछड़ेपन की प्रतीक है। उपन्यास के कुछ प्रमुख पात्र जैसे सन्तोष, पंडित जयन्ती, सुराज, रामराज आदि अपने सजीव व्यक्तित्व के साथ-साथ प्रतीकात्मकता का संकेत भी देते चलते हैं। 1947 में भारत को स्वराज मिला पर सुराज नहीं मिला। 'सुराज' मिला पूंजीपतियों और भूमिपतियों पत्रकारों और बुद्धिजीवियों को, नेताओं और चमचों को, ठेकेदारों और इंजीनियरों को, सरकारी पदाधिकारियों और उनके परिवारों को। यह सुराज शहरों तक सीमित रह गया, गाँव की जनता तक नहीं पहुँच पाया; क्योंकि शहर को गाँव से जोड़ने वाली सड़क नहीं बनी। इस सुराज को कैद कर लिया गाँव के कुछ भूमिपतियों ने, जो सत्ता और राजनीति से जुड़कर पहले से भी अधिक शक्तिशाली बन गये। जनता गरीबी, अशिक्षा और हर तरह के पिछड़ेपन की शिकार अपनी विवशताओं में कैद रह गयी। यह जनता अब जाग रही है। 'सुराज' और 'रामराज' जनता तक पहुँचने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। किसान जग गया है और संघर्ष के रास्ते पर चल पड़ा है।, दलित नारी विद्रोह की घोषणा कर चुकी है। ग्रामीण मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी जग गया है। 'समर शेष है' के विजन का सबसे मुख्य पक्ष संघर्ष है। यह जन संघर्ष जगरता गांव से आरम्भ होकर 'जनता आश्रम' तक पहुँचता है। जगरता गॉव के ग्रामीण अपने गाँव में सड़क न पहुँचन के विरोध में मतदान का सामूहिक बहिष्कार करते हैं। इसी विरोध में से एक नेतृत्व भी उभरता है। आकस्मिक उत्तेजना से पैदा हुआ यह विद्रोह धीरे-धीरे एक क्रांति योजना का राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर लेता है। इसका पहला चरण है गाँव की असलयित को जानना। इसी जानने के क्रम में ही सुराज का पहला टकराव भूमिपति समरेश बहादुर से होता है जो अन्ततः जनता और सत्ता का संघर्ष हो जाता है। इस संघर्ष में सुराज की प्रेमिका और वाग्दत्ता जयन्ती भी शामिल हो जाती हैं। एक तरफ कई गाँवों के भूमिपति, ग्राम-प्रमुख, ब्लाक-प्रमुख, इण्टर कालेज के मैनेजर, प्रिंसिपल, और उनसे जुड़ा हुआ सरकारी तंत्र है, तो दूसरी तरफ जयन्ती, रामराज, सन्तोषी

मास्टर सुराज, किसान जानकी नाथ और इनसे जुड़े असंख्य किसान और मजदूर हैं। सुराज बुद्धिजीवियों के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है और सत्ता द्वारा बिछाये गये जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है। अतः धीरे-धीरे यह संघर्ष राष्ट्रीय रूप ले लेता है गांवों के पिछड़ेपन की समस्या सिर्फ पूर्वांचल के किसी अंचल विशेष की नहीं बल्कि पूरे भारत के गॉव की समस्या है। इस प्रकार विवेकी राय का यह उपन्यास आज की मूल्य विहीन, दिग्भ्रमित, भारतीय हिंसक पीढ़ी का चित्र प्रस्तुत करता है जो अपने आचरणों से अराजकता की स्थिति पैदा किये हुए हैं। 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के बाद पूर्वांचल के मानस को पूर्ण रूप से झकझोर देने वाली दूसरी घटना भारत पर चीनी आक्रमण की थी जो उसके बीस वर्ष बाद 1962 में घटी। भारतीय मानस पर हुई प्रतिक्रिया का अनुभूतिपूर्ण अंकन ही विवेकी राय के उपन्यास 'मंगल भवन' का उद्‌देश्य है। उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में राष्ट्रीय मानस के उस क्रोध, क्षोभ, घृणा, उत्साह, त्याग और बलिदान को अभिव्यक्त करने का रचनात्मक प्रयास किया है। 'मंगल भवन' में 1962 का चीनी युद्ध दो स्तरों पर लड़ा जा रहा है। यदि सीमा पर सैनिक लड़ रहे हैं तो पूर्वांचल का अनपढ़ गँवार, निर्धन और राजनीति को न समझने वाला ग्रामीण भी अपने देश के लिए युद्धरत हैं। इस उपन्यास में ग्रामीण युवक ही नहीं, बूढ़े तक चीनियों से लड़ने को लालायित हैं, माताएँ अपने जवान बेटों के माथे पर रोली लगाकर सीमा पर भेज रही हैं। सुहागिनें अपने मंगलसूत्र तक दान कर रही हैं। जन्म भर के कंजूस अपने जमा किये धन को झटके से युद्धकोश में दे डालते हैं, ग्रामीण स्तर के कवि टूटी-फूटी कविताओं में भारत की विजय के गीत गाते हैं। बसों में, रेलगाड़ियों में, पंचायतों में, स्कूलों में युद्धकोश के लिए चन्दे द्वारा धन एकत्र किया जा रहा है। इस प्रकार केवल भारत की उत्तरी-पूर्वी सीमा ही नहीं, सारा भारत, गाँव-गाँव, गली-गली, खेत-खलिहान, स्कूल-कॉलेज और रास्ते-चौराहे एक प्रकार से युद्ध की चौकियों में बदल जाते हैं।

जो ग्राम मानस राष्ट्रीय संकट की घड़ी में इतने उदात्त मूल्यों से जुड़ जाता है वही सामान्य जीवन

में मूल्य हीनता का शिकार कैसे हो जाता है? इस अंतर्विरोध को भी उपन्यासकार ने 'मंगल भवन' का विषय बनाया है। इस अंतर्विरोधों वाली मानसिकता के मूल में बदलते परम्परागत रिश्ते, पुराने मूल्यों के प्रति आस्था की कमी, सत्ता केन्द्रित राजनीति का हिंसक और घिनौना चेहरा, राजनीति का खेल खेलते हुए नेताओं का भ्रष्ट आचरण है, युवकों की बेकारी और उनका शोषण करने वाले दलालों के धन्धे, गुंडागर्दी, साम्प्रदायिकता को हवा देते रहने वाले राजनीतिक हथकंडे हैं। अतः एक अस्त-व्यस्त, दिशाहीन और मूल्यहीन ज़िन्दगी का सैलाब है। इस प्रकार मूल्यपरकता और मूल्यहीनता के द्वन्द्व का यह चित्रण भारतीय किसान के चरित्र को समग्रता में उद्‌घाटित करता है।

तोफिल मुहम्मद मीरान का तमिल उपन्यास 'बंदरगाह' तमिलनाडु के एक गाँव से शुरू होता है। इस उपन्यास की अंतर्वस्तु एक ऐसे समाज से जुड़ी हुई है जो मछली सुखाकर उसके व्यापार से जीवन यापन करते हैं। यह समाज अंधविश्वासों, दकियानूसी विचारों और पाखंडों से पूरी तरह जकड़ा हुआ है। उस समाज में आर्थिक रूप से ताकतवर लोगों, पूंजीपतियों, जमींदारों के चंगुल में फँसकर आम जनता घुटन महसूस करती है। नयी सभ्यता की रोशनी के प्रवेश के लिए जो दुर्गम है, उसमें भूख और फाकामस्ती नयी सोच वालों की जिंदगी का अंग बन गयी है। मजहब को हथियार बनाकर कौमी और दीनी नेता गरीबों के शोषण में लगे रहते हैं। यह आज के भारतीय नेताओं की नियति बन गयी है। इस उपन्यास की अंतर्वस्तु तमिलनाडु के एक गाँव से जुड़े रहने के बावजूद अपना देश व्यापी रूप बनाये हुए हैं। दलित वर्ग कहीं भी हो, भारत में एक जैसे अनुभव से विद्ध है।

'पीली आँधी में प्रभाखेतान ने कलकत्ता के महानगरीय परिवेश का बहुत ही विश्वसनीय चित्रण किया है। प्रभा खेतान का यह उपन्यास अपने विस्तृत और वैविध्यपूर्ण कथाफलक के कारण मारवाड़ी समाज के संघर्ष और पीड़ा का महाकाव्य बन गया है। मारवाड़ियों के राजस्थान से कलकत्ता आकर उद्योगपतियों में रूपान्तरित होने, उनके बनने, बिगड़ने तथा मारवाड़ियों द्वारा राजस्थान से अपने साथ लाये राजस्थानी संस्कृति से कलकत्ता में एक नये प्रकार की संस्कृति का जन्म् देने आदि का अंकन

प्रभा खेतान ने अपने इस उपन्यास में किया है। स्त्री का दुःख पीली आँधी में एक बड़े समाज का दुःख बन गया है। सब कुछ उजड़ जाने का प्रतीक है पीली आँधी। इस पीली-आँधी के बाद कैसे एक छोटा सा अँकुर फूटता है और वह फलने-फूलने लगता है यही इस उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु भी है। इस उपन्यास में एक परिवार नहीं बल्कि कुल है, संयुक्त परिवार है। यह राजस्थान के उन लोगों की जीवन कथा है जो प्रकृति की मार और सामंती शोषण की विभीषिका से बचने के लिए देसावर में भटकने के लिए विवश हुए और अपनी कड़ी मेहनत तथा बुद्धि के बल पर सम्पन्न बनने में सफल हुए। यह उस समय की कहानी है जब भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद का तथा जनता सामंती निरंकुशता की शिकार थी, और बनियों का परिवार उनके आतंक से बचने के लिए बार-बार विस्थापित होता रहता था। यह एक पीली आँधी थी जिसमें मारवाड़ी परिवार पत्तों की तरह बिखर गया तथा नये भाग्य गढ़ने का प्रयत्न करने लगा। कठिन परिश्रम, पारिवारिक सहयोग तथा राजनीतिक-सामाजिक टकराहटों से बचते हुए अपने लिए सम्मानपूर्ण जगह बनाना उनका प्रमुख लक्ष्य था। इस ऐतिहासिक सच्चाई को प्रभाखेतान ने बहुत ही विश्वसनीय और तीन पीढ़ियों की संवेदना से भरी कथा-रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार ने मारवाड़ियों की शानशौकत के पीछे छिपे संघर्ष के साथ-साथ उनके जीवन के अंतर्विरोधों को भी इस कथा में उभारा है। इस प्रकार इस उपन्यास की कथा एक विशेष सामाजिक-वर्ग की कथा है सही पर यह विस्थापितों की अखिल भारतीय समस्या को अंकित करती है।

होमेन बरगोहाई के असमी उपन्यास 'मत्स्यगंधा' के केन्द्रीय समस्या असम प्रांत के गाँवों में बसी जनजातियों के सांस्कृतिक जीवन, जाति व्यवस्था, विवाह-प्रथा, उनके राग-विराग, उनकी व्यथा-कथा, सामाजिक संघर्ष आदि से जुड़ा हुआ है। इन्हीं जनजातियों के बीच से जात बिरादरी को छोड़, मछुआरे के गाँव की कोई लड़की शादी कर ले इसकी कल्पना कई पीढ़ियों से दासता का जीवन जीते आ रहे गाँव के लोग नहीं कर सकते थे। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर उपन्यासकार ने मत्स्यगंधा की सर्जना की है। इस उपन्यास की स्त्री पात्र 'मेमेरी' डोम जाति की है। मेमेरी एक दिन

अपने पुत्री मेनका के साथ पड़ोस में ही उच्च जाति के घर मछली के बदले धान के लिए जाती है तो घर की मालकिन का ध्यान उस ओर जाता है जहाँ मेनका की परछायीं फैलाये गये धान पर पड़ती है। मेनका की परछायी पड़ने मात्र से घर की मालकिन ये कहकर धान फेंकने का निर्णय करती है कि मेनका एक अछूत डोम जाति की है। इस वर्गभेद को मत्स्यगंधा के इस अंश में आसानी से देखा जा सकता है – "मेनका के गाल पर जोर से एक तमाचा लगाकर भड़क उठी, ओफ-ओफ, बर्बाद कर दिया, मेरा सारा धान नष्ट कर दिया। इसे उबालकर सुखा रही थी। अरे मेमेरी छिनाल, तेरी बेटी तो नासमझ है ही, पर तूने उसे क्यों नहीं रोका? उसे पकड़कर क्यों नहीं रखा? अब देख, इस टोकरी का सारा धान मुझे फेंक देना पड़ेगा।"[1] इससे स्पष्ट है कि इस तरह का वर्ग-भेद आसाम की क्षेत्रीय व्यवस्था के तहत है लेकिन देश के अन्य प्रांतों में ऐसा वर्ग भेद नहीं दिखाई पड़ता। भारत के अन्य प्रांतों जैसे हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तरांचल, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ आदि प्रांतों में यही जनजातियाँ उच्च जाति के लोगों के खेतों में काम करके उनके लिए अनाज उपलब्ध कराती है। इस तरह समाज की ये विसंगतियां तथा वर्ग भेद एक क्षेत्र तक सीमित है, इसका अब राष्ट्रीय रूप नहीं दिखाई देता है? इस उपन्यास में एक दूसरे प्रसंग में मेनका द्वारा स्वयं अपने पति 'पूर्ण' पर नपुंसकता की मुहर लगाना एक क्षेत्र विशेष से जुड़ी हुई व्यक्ति की संकुचित मानसिकता को उजागर करता है। इस तरह का लांक्षन लगाने का विचार किसी क्षेत्र विशेष से जुड़े स्त्री का वैयक्तिक विचार हो सकता है, पूरे भारतीय समाज में स्त्रियों का विचार हो ऐसा सम्भव नहीं है। इस तरह के विचार को मत्स्यगंधा के निम्न संदर्भ में स्पष्टतः देखा जा सकता है – "अरे हिंजड़े, मेखला में घुस गया क्या? चुप क्यों हो गया? सारा गाँव जो कहता है – कि तू इन दोनों बेटों का बाप नहीं है। वह क्या झूठ है? तुझे याद नहीं, अभी उस दिन जब थोड़ी-सी जमीन को लेकर झगड़ा हुआ था तब तेरे सगे भाई ने ही कहा था – "अरे पूर्ण ! मेरे सामने गड़ाँसा घुमाकर

---

1. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा, पृ०सं० – 14

अपनी मर्दानगी मत दिखा, दम है तो अपनी औरत के सामने मर्द साबित कर अपने को! सारी दुनिया जानती है तू नपुंसक है। तू बाप होने की भी दम नहीं रखता।' ... घर आकर अपनी बीबी की मेखला में छिप गया। अच्छी तरह से सुन ले – लोग जो कहते हैं वह एकदम सही कहते हैं – तू इन दोनों बेटों का बाप नहीं है, और जो बेटा मर गया उसका बाप भी कोई दूसरा था।''[1]

मेखला एक विशेष प्रकार का बस्त्र है जिसे असम की महिलायें अधोवस्त्र के रूप में पहनती है। साड़ी के स्थान पर असम की महिलाओं में मेखला और चादर पहनने का रिवाज है। असम के अधिकांश गॉव तथा वहां के लोग आज भी पिछड़े हुए हैं वहां पर विकास की किरण स्वतंत्रता के बाद भी आज तक नहीं पहुंची है। मत्स्यगंधा के इस संदर्भ में पिछड़ापन स्पष्टतः देखा जा सकता है – ''बाहर की दुनिया से वह गाँव पूरी तरह कटा हुआ था। रेल या मोटरगाड़ी उन्होंने केवल पुस्तक के चित्रों में ही देखी थी।''[2]

आसाम के गाँवों में आज भी प्रेम विवाह की प्रथा प्रचलित है। इस प्रात से जुड़े प्रसंग को मत्स्यगंधा के निम्न संदर्भ में देखा जा सकता है – ''उस इलाके में बसने वाली उसकी बिरादरी के लोगों में शादी-व्याह कम ही रचाया जाता था। बड़ी होने पर लड़कियों को उनके प्रेमी भगा ले जावे या वे स्वयं अपनी खुशी से किसी के साथ जाकर घर बसा लेतीं।''[3] इस तरह की विवाह की प्रथा भारत के अन्य भाग में प्रचलित नहीं है फिर भी भारत के हर भागों में छिटपुट प्रेम विवाह माँ-बाप के अनुमति से होने लगे हैं। इस तरह ये विवाह, प्रथा के रूप में अनिवार्य नहीं, मां-बाप के अनुमति पर निर्भर करता है। अतः प्रेम विवाह प्रथा के रूप में एक क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। इस उपन्यास की गरीबी भी एक मूल समस्या है। गरीबी के कारण मजदूर श्रम करने से पूर्व एडवांस रूप में मजदूरी ले लेते

---

1. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा, पृ०सं० – 17
2. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा, पृ०सं० – 19
3. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा, पृ०सं० – 20

हैं। ऐसी ही एक घटना स्त्री पात्र मेमेरी के साथ घटित होता है जो सात दिन की मजदूरी एडवांस रूप में लेती है। यह कहा जाय कि पात्र मेमेरी की केवल व्यथा कथा हो ऐसा नहीं है, बल्कि पूरे भारतवर्ष के मजदूरों की ऐसी ही दशा है। मत्स्यगंधा के निम्न संदर्भ में इस व्यथा को स्पष्टतः देखा जा सकता है – "फिर उसने तो सात दिन का धान भी तो पहले ही मांग लिया है। पहले से मजूरी लेकर फिर बीमारी का बहाना बनाकर बिस्तर पर पड़े रहने से उसे दुबारा कौन काम देगा?"[1]

जिस समय कैवर्त गाँव का एक भी आदमी को अक्षर ज्ञान नहीं था। उस समय दिगम्बर ने अपने दोनों बेटों जयहरि और पूर्ण में से एक को मोहधुली गाँव के स्कूल में शिक्षक तथा दूसरे को पटवारी बनाने का सपना संजोकर यह साबित कर दिया कि वह किसी और ही धातु का बना आदमी है। दिगम्बर का यह विचार निश्चित ही एक स्वस्थ मानसिकता की सोच कही जायेगी, जो उस जनजातियों के परिवेश में रहते हुए भी जहाँ अक्षर ज्ञान का नामोनिशान नहीं है वहाँ अपने बेटों को शिक्षित कर आत्मनिर्भर बनाने की बात सोचना अपने आप में महत्वपूर्ण है परन्तु दिगम्बर के दोनों पुत्र जाति व्यवस्था का शिकार होते हैं फिर भी दिगम्बर हिम्मत नहीं हारता बल्कि वह अपने पुत्रों को खेती करने के लिए प्रेरित करता है, लेकिन पूर्ण के लापरवाही और दायित्वहीनता के चलते भालू ने एक बीघा गन्ने के खेत को रौंद डाला। इस घटना से दिगम्बर के सारे सपने टूटकर चूर-चूर हो गये। उसी क्षण दिगम्बर ने अपने पुत्र पूर्ण को अपने से अलग कर दिया। इतने दिनों तक सहते रहने के बाद उसने अनुभव किया कि जब तक पूर्ण की अपनी अलग घर गृहस्थी नहीं होगी तब तक उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन होने की आशा नहीं है। इस प्रकार पूर्ण को आत्मनिर्भर तथा घर की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ करने के क्रम में ही संयुक्त परिवार का विखंडन हो गया। ये विखण्डन दिगम्बर के परिवार का अकेला हो ऐसा नहीं है बल्कि पूरे भारतीय समाज में संयुक्त परिवार के विखण्डन की समस्या है। ये विखण्डन की समस्या आज क्षेत्रीय नहीं बल्कि एक राष्ट्रीय समस्या बन गयी है। होमेन

---

1. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा पृ०सं० – 24

बरगोहाई के इस उपन्यास में मृत्यु को लेकर गाँवबूढ़ा ने पूछा, "अरे हरिभक्त, बात कुछ अजीब-सी लग रही है। क्या मुर्दे को श्मशान ले जाने के साथ ही रसोई का सामान बाहर निकाला जाता है? उन दोनो को चकित करके रास्ते से गुजरते हुए एक आदमी ने बिना पूछे ही जवाब दिया – निकालते है, निकालते हैं। यदि कोई महापाप करके अपमृत्यु को प्राप्त होता है, तब मुर्दे और रसोई के बर्तनों को एक साथ बाहर करना पड़ता है। तभी समाज और धर्म की रक्षा होती है।"[1] इस संदर्भ से ये बात स्पष्ट हो जाती है कि आसाम के आंचलिक क्षेत्रों में मृत्यु के बाद मुर्दे को श्मशान ले जाते समय रसोई के बर्तनों को बाहर निकाला जाता है जो आसाम के लोगों के व्यावहारिक जीवन में ऐसा होता हो लेकिन इसका राष्ट्रीय रूप दिखाई नहीं देता।

मोहधुलि गाँव का एक आहोन जाति का लड़का अपनी जाति-बिरादरी छोड़कर एक डोम जाति की लड़की से शादी करके डोम गाँव के दिगम्बर के घर में घर-जँवाई बन गया। इस अंतर्जातीय विवाह का विरोध वहॉ के समाज कुछ इस ढंग से करता है – "माँ-बाप ने इसलिए रसोई के बर्तन धोखर उसके मरने का क्रिया-कर्म आज ही कर लिया है। ठीक ही तो किया है। जो लड़का नीच जाति के साथ सम्पर्क में आकर माँ-बाप के घर में आने तक अधिकार खो बैठा है उसको मर ही गया समझना चाहिए।"[2] इस तरह का विरोध आसाम के समाज के लोगों में प्रचलित है, मध्यभारत या पश्चिमी उत्तर भारत के क्षेत्रों में इस प्रकार से अंतर्जातीय विवाह का विरोध कहीं भी दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार इस तरह का विरोध आसाम के एक अंचल विशेष से जुड़ा हुआ है।

❑❑❑

---

1. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा – पृ० सं० – 67
2. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगंधा – पृ० सं० – 68

चतुर्थ अध्याय

हिंदी उपन्यासों और अनूदित उपन्यासों का तुलनात्मक मूल्यांकन

हिंदी के मौलिक उपन्यासों के निर्माण में भारतीय भाषाओं से विशेषकर बॅंगला से अनूदित उपन्यासों का महत्वपूर्ण योगदान है। जब दो क्षेत्रीय जातियाँ, व्यक्ति, दो भिन्न संस्कृतियां एवं साहित्य एक दूसरे के निकट आते हैं तो उनको परस्पर परिचित होने के लिए अनुवाद का माध्यम अपनाना पड़ता है। ब्रिटिश सत्ता के काल में दक्षिण भारत एवं उत्तर भारत एक दूसरे से बहुत दूर थे। भावनाओं एवं भाषागत एकता में उत्तर भारत के पंजाब, बँगाल, उड़ीसा, आसाम एवं सिन्ध प्रदेश हिंदी भाषियों से उसी तरह दूर थे जैसे दक्षिण भारतीय क्षेत्र। भावनात्मक एकता एवं भिन्न सामाजिक समस्याओं के ज्ञान के लिए प्रारम्भ में उपन्यासों का अनुवाद हुआ। बँगला से अनुवाद कार्य सर्वप्रथम किया गया। धीरे-धीरे गुजराती, मराठी, पंजाबी, उर्दू, उड़िया, डोगरी, राजस्थानी, मलयालम, तेलुगु, तमिल, कन्नड़,कश्मीरी, असमी एवं अन्य भाषाओं से उपन्यासों को अनूदित किया गया। बँगला उपन्यासों के अधिक अनुवाद किये जाने का कारण यह था कि बँगला भाषी इस विधा से अंग्रेजी के माध्यम से सर्वप्रथम परिचित हुए थे। साथ ही साथ बँगला कथा साहित्य राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत एवं सामाजिक नवोत्थान की विचारधारा से पूर्ण था। अतएव, तत्कालीन आवश्यकता के अनुरूप बँगला कथा-कृतियों को हिंदी में अनूदित किया गया।

स्वतंत्रता के बाद अनुवादों की दृष्टि से कई नवीन भाषाओं के अनुवादों के प्रवेश से क्षेत्र व्यापक हो गया। तमिल, तेलुगु, मलयालम एवं कन्नड़ आदि दक्षिण भारतीय भाषाओं से तथा असमीया एवं सिंधी आदि उत्तर भारतीय भाषाओं से पहली बार अनुवाद किया गया।

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों का तुलनात्मक मूल्यांकन करने के दौरान मुख्यतः

चार बातों – अंतर्वस्तु, संवेदना, पात्र, तथा शैली पर ध्यान केन्द्रित किया जाना जरूरी है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के भारतीय उपन्यासों के अध्ययन के दौरान यह जीवन-सत्य समान रूप से सभी रचनाओं में उभरकर आता है कि हम भयंकर रूप से मूल्यों के पतन के दौर से गुजर रहे हैं। सभी रचनाकार समय के सबसे ज्वलंत इसी प्रश्न से जूझ रहे हैं कि ढहती मूल्यवत्ता को कैसे रोका जाय? युग मूल्यहीनता का है। मूल्य और मूल्यहीनता की इस टकराहट को बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों के भारतीय उपन्यासों ने पूरी गम्भीरता के साथ अपनी अंतर्वस्तु का विषय बनाया है। मूल्यहीनता के भयावह यथार्थ का पुरजोर अंकन करते हुए मूल्यवान को बचाने के महीन और सशक्त संकेत भारतीय उपन्यासों में दिये गये हैं। नैतिक दायित्वबोध के इस सामूहिक प्रयास के फलस्वरूप ही बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में बहुत से हिंदी भाषी क्षेत्र तथा अहिंदी भाषी क्षेत्र के उपन्यास साहित्य जगत की विशिष्ट उपलब्धियाँ बन गये। इसी श्रृंखला के क्रम में मनोहर श्याम जोशी का हिंदी उपन्यास 'कुरु-कुरु स्वाहा' के अंतर्वस्तु में समकालीन जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों का समावेश हुआ है और मूल्यहीनता का हाल यह कि सब कुछ स्वाहा करने का स्वर मुखर हो गया है। जोशी ने अपने इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन का आन्तरिक यथार्थ कलात्मक संयम के साथ प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय व्यक्तियों के दुहरे चरित्र का पर्दाफाश किया गया है। मनोहर श्याम जोशी के इस उपन्यास में कथ्य से ज्यादा महत्वपूर्ण उसका शिल्प है, जिसका संकेत उपन्यास की भूमिका से भी मिलता है। उपन्यासकार ने इसे 'दृश्य और संवाद प्रधान गप्प बायस्कोप' कहा है और अपने पाठकों से आग्रह किया है कि इसे पढ़ते हुए देखा सुना जाए। इस उपन्यास में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि वह पात्र जिसका जिक्र इसमें मनोहर श्याम जोशी संज्ञा और 'मैं' सर्वनाम से किया गया है वह सबसे अधिक कल्पित है। उपन्यास विषयक यह तथ्य सामने आता है कि यहाँ भी एक नयेपन का आभास देते हुए कथाकार या नरेटर को नाटकीकृत करने का गुर अपनाया गया है। जोशी जी

ने शिल्प में नयापन लाने का प्रयास इस रूप में किया है कि उन्होंने 'मैं' को अपना ही नाम दे दिया है। राही मासूम रज़ा और मनोहर श्याम जोशी का अन्तर यह है कि राही खुद को खुद के रूप में पेश करते और पाठक से सीधा सम्बन्ध स्थापित करके कहानी सुनाते हैं; जबकि जोशी खुद का नाटकीकरण या अप्रत्यीकरण करने की कोशिश करते हैं। वे मनोहर श्याम जोशी के व्यक्तित्व को तीन टुकड़ों में बाँटते हैं – मनोहर जोशी और मैं अथवा मनोहर श्याम जोशी। इनमें मनोहर सहज विश्वासी, भावुक, बालक मन है, जोशी बौद्धिक, गम्भीर साहित्यकार और थोड़ा बहुत विद्वान और मैं या मनोहर श्याम जोशी एक मध्यवर्गीय पत्रकार, वृत्त चित्रकार या फिल्मी दुनिया में ताक झाँक करने वाला मिडियॉकर है। 'कुरु-कुरु स्वाहा' में महानगरीय बम्बई के जीवन से जुड़ी कथा है जहाँ सिनेमा, अपराध, सेक्स आदि के अलग-अलग संसार हैं। उपन्यासकार अपनी विशेष शैली के कारण पारम्परिक कथानक, चरित्र-निर्माण, परिवेश रचना आदि को तोड़ने में तो जरूर सफल हुआ है लेकिन संवेदना की दृष्टि से उपन्यासकार के पास कोई सार्थक, मानस को झकझोरने वाला चमकदार विज़न नहीं है। एक सतही अनुभव, एक खिलन्दड़ी सी मानसिकता तथा कदाचित् महानगरीय जीवन की विसंगतियों, फालतूपन, उलजलूलपन आदि का थोड़ा प्रमाणिक और सच्चा अनुभव ही उसकी गाँठ में है जिसे उपन्यास का रूप देने के लिए शिल्पगत नट कर्म या बाजीगरी का रास्ता अपनाया गया है।

अंतर्वस्तु की दृष्टि से हिंदी उपन्यासों में कथावस्तु का क्षेत्र व्यापक है परन्तु अहिंदी भाषी क्षेत्र के उपन्यासों के कथावस्तु का क्षेत्र अपने ही प्रांत तक सीमित है, चाहे वह असमी भाषा का उपन्यास हो चाहे उड़िया का, चाहे डोगरी भाषा का हो चाहे पंजाबी का, चाहे गुजराती का उपन्यास हो चाहे कन्नड़, चाहे मलयालम या तमिल भाषा का हो – सभी उपन्यासों के कथानक अंचल विशेष या प्रांत तक सीमित है। असमी उपन्यासों के विषय के पृष्ठभूमि और कथा तत्व तो असाम की भूमि से उत्पन्न है पर टेकनीक पश्चिम की है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के उपन्यासकारों पर जनता की

ऐतिहासिक रूचि का मुगल और वर्मी आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्रदर्शित असम के वीरो और वीरांगनाओं के राष्ट्रीय शौर्य का, जाति और जातिगत विद्वेषों के साथ-साथ अन्य सामाजिक असमानताओं का, बाल-विवाह और हिन्दुओं की तथा कथित उच्च जातियों में विधवा विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह के विरोध की कुरीतियों का किसी न किसी मात्रा में प्रभाव पड़ा। विवाह से पहले युवकों और युवतियों से प्रेम और साहचर्य की स्वतंत्रता और परिणय के पूर्व माता-पिता की औपचारिक सम्मति कुछ रोमानी उपन्यासों की प्रिय कथा वस्तु हो गयी। पहाड़ों और मैदानों में रहने वाली विभिन्न जातियों के विभिन्न रीति-रिवाजों और प्रथाओं ने लेखकों को यह अवसर दिया कि वे वहाँ के लोगों के प्यार और रोमांस की घटनाओं से भरे हुए सामाजिक इतिहास का वर्णन करें।

उड़िया उपन्यासों के कथानक में रोमांस तथा लोककथा के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाएँ भरी हुई हैं। मनोविज्ञान के प्रति आग्रह और कुचले हुए वर्ग के प्रति सहानुभूति वर्तमान युग के उड़िया उपन्यासकारों की विशेषता है। बॅंगला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास की अंतर्वस्तु को नगरों के आस-पास के इलाके के पिछड़े पन, समय के साथ बदलते हुए मूल्यों के फलस्वरूप समाज और परिवार के, व्यक्ति और व्यक्ति के, पुरुष और नारी के बदलते संबंधों से चुना है। आशापूर्णा देवी ने बँगला उपन्यास 'दृश्य से दृश्यान्तर' में इसी अंतर्वस्तु को एक किशोर बालिका के माध्यम से सहज और सूक्ष्म मनोविश्लेषण किया है। आशापूर्णा देवी ने अपना एक दूसरा बँगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन' में समकालीन मध्यवर्गीय जीवन और सामाजिक मानस की यथार्थ छवि को प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास की स्त्री पात्र कावेरी आत्मविश्वास से भरी-पूरी है उसमें किसी प्रकार का विचलन नहीं है। कावेरी अनेक प्रकार के सामाजिक प्रश्नों से निरन्तर जूझती रहती है जो उसे जटिल सीमाओं में बाँधे रखना चाहती है। बँगला के ही उपन्यासकार महाश्वेता देवी के उपन्यास 'सच-झूठ' की अंतर्वस्तु में एक नयी जमीन हमारे सामने प्रस्तुत होती है। इस उपन्यास के कथानक में हमारे भारतीय समाज

के नवधनाढ्य वर्ग की विचित्र लीला है। ये नवधनाढ्य वर्ग घर-मकान छोड़कर प्रमोटरों द्वारा बनवायी गयी बहुमंजली इमारतों के फ्लैटों में कई-कई मंजिलों में बसते हैं तथा इन इमारतों के पार्श्व में इनकी सेवा के लिए दाइयाँ भी पुरानी बस्ती में रहती हैं। बर्बर शरीर और उद्धत यौवन से परिपूर्ण ये युवती दाइयां मेम साहबों की गैर मौजूदगी में साहबों के वासना के काम आती हैं। ऐसी ही एक दाई यमुना और धनिक साहब अर्जुन के चारों ओर घूमती यह कथा धनिक वर्ग के जीवन के गुप्त रहस्यों को खोलती है – जहाँ गरीबो का आर्थिक शोषण के साथ-साथ शारीरिक शोषण भी होता है। पुरुष प्रधान समाज में आज भी औरत को रुपये का गुलाम समझा जाता है जिसका जीवन्त चित्र 'सच-झूठ' में प्रस्तुत है।

हिंदी तथा भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन से जुड़ी घटनाओं को कथावस्तु का विषय समान रूप से बनाया गया है लेकिन हिंदी उपन्यास के चाहे स्त्री पात्र हो या पुरुष पात्र सभी में स्थिरता, दृढ़ता तथा आत्मविश्वास नहीं है। ये पढ़े-लिखे स्वावलम्बी होते हुए भी एकाकीपन महसूस करते हैं। जैसे-हिंदी उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' की स्त्री पात्र कुनी, जो पढ़ी-लिखी और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होते हुए भी, पारिवारिक मर्यादा के रूढ़ मूल्यों, तिलक-दहेज की बाधाओं, परिवार के प्रति स्वयं ओढ़ी जिम्मेदारियों आदि के कारण लगभग 32 वर्ष तक एकाकीपन और अनिर्णय की मानसिकता में जी रही है। इसी तरह हिंदी उपन्यास 'तीसरी सत्ता' की स्त्री पात्र डाक्टर पत्नी रमा आधुनिक नारी के दाम्पत्य जीवन से उत्पन्न जटिलताओं से सम्बद्ध है। रमा शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होकर भी पुरानी सामाजिक-नैतिक रूढ़ियों और मान्यताओं से मुक्त नहीं हो पाती। पति उसे अपनी बस्तु समझता है लेकिन अहिंदी भाषी क्षेत्र के पंजाबी उपन्यास 'परसा' की स्त्री पात्र मुख्तारकौर और पुरुष पात्र बसंता आदि सभी सुसभ्य, सुसंस्कृति या पढ़े-लिखे लोग नहीं है। वे एकदम सीधे-सादे और निर्भय गँवार लोग है। वे आदमी है। व्यक्ति है, समूह से एकदम अलग,

जांबाज। उन्हें न तो मृत्यु डराती है और न ही जीवन के बीहड़ों से भयभीत होते हैं। इस उपन्यास का नायक परसा तो सभी मजहबों तथा धर्मो-कर्मों के आवरण को उतार फेंकता है। वह केवल कर्म की गरिमा तथा गौरव को ही मानवीय धर्म मानता है। वह भगवान पर विश्वास करने के बजाय स्वयं पर भरोसा करके एक सृजनहार की भाँति जीवन व्यतीत करता है। यह वह मानववाद है जिसके लिए मानव सदैव जूझता है। इन पात्रों में गजब का आत्मविश्वास भरा हुआ है। इसी तरह पंजाबी उपन्यास 'अध चॉदनी रात' का पुरुष पात्र मोदन तो आत्म सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा के लिए धणे का कत्ल तक कर देता है। पैतृक बदला लेना मर्दानगी तथा स्वाभिमान पंजाब के गाँवों का सर्वोत्तम गुण माना जाता है। ''पंजाबी उपन्यासकार गुरुदयाल सिंह के पात्रों की बड़ी खासियत यही है कि वे हाड़-माँस के जीवित लोग हैं। लाभ-लोभ, मोह-पाश, प्यार-घृणा, द्वेष-स्नेह किसी भी भाव से वंचित नहीं है। लेकिन दिलयार हैं। यार-बाज़। स्त्री की उपस्थिति वहां कोई छुई-मुई जैसी नहीं है। बल्कि अपनी समग्र चेतना में वह व्यक्ति के रूप में स्थापित है। एक ऐसी औरत जो पुरुषों से नहीं डरती बल्कि पुरुष को प्रेत की तरह डराती है। एक ऐसी औरत जो स्वयं आगे आती है। पुरुष की ऊर्जा और उसकी अपने आपको बेहतर मानने की समझ को लील जाती है।''[1]

हिंदी उपन्यास 'पहला गिरमिटिया अपनी ख़ास उपलब्धि के कारण अपनी विशिष्ट उपस्थिति दर्ज कराता है। गिरिराज किशोर ने अपने गांधी विषयक विजन को सजीव बिम्ब में बदल दिया है। उपन्यास का गाँधी इतिहास का गाँधी होते हुए भी गिरिराज के विजन का गाँधी है जो भारत का पहला गिरमिटिया है। पहला गिरमिटिया का कथा शिल्प इस अर्थ में नवीन है कि इसमें एक संचिका में नत्थी पात्रों और टिप्पणियों के माध्यम से उपन्यास का कथ्य संसार बुना गया है। उपन्यासकार ने इस वृहत्

---

1. पल-प्रतिपल – सम्पादक देशनिर्मोही, अंक – सितम्बर-दिसम्बर 1999, पृ०सं० – 39

उपन्यास में गाँधी के जीवन के उस पक्ष को विषय बनाया है जो संवेदना की आंखों से ही देखा जा सकता है। ऐसा नहीं कि इसमें इतिहास नहीं है। इस उपन्यास में दृश्यात्मक-परिदृश्यात्मक शैली का सर्जनात्मक उपयोग दिखाई देता है।

वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का असमीया उपन्यास 'पाखी घोड़ा' की कथा आसाम के ही भूमि गुवाहाटी के एक मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार से जुड़ी हुई है इसी परिवार को केन्द्र में रखकर उपन्यास ने आजादी के उत्सव का चित्रण किया है असमीया उपन्यास 'पाखी घोड़ा' हिन्दी उपन्यास पहला गिरमिटिया से इस बात में भिन्न है कि 'पाखी घोड़ा' के कथा में एक मध्यवर्गीय परिवार केन्द्र में है जबकि 'पहला गिरमिटिया' में एक व्यक्ति अर्थात् गांधी केन्द्र में है। वैसे गॉधी दोनों उपन्यासों में किसी न किसी रूप में विराजमान है। 'पहला गिरमिटिया' का गॉधी एक पात्र की हैसियत से उपन्यास में आते है जबकि असमीया उपन्यास 'पाखी घोड़ा' में ईसाई महिला सुमति, पुरुष पात्र 'नवीन' को प्रेरित करती है कि वह गाँधी जी द्वारा दिखाये गये रचनात्मक कार्यों को करते हुए समाज के कार्य में लगा रहे। वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के असमीया उपन्यास 'मृत्युंजय' में जो हिंसा और अहिंसा के बीच संघर्ष दिखाई देता है, वह 'पाखी घोड़ा' में भी आया है, सिर्फ उसका संदर्भ बदल गया है। यहां संदर्भ ब्रितानी सरकार द्वारा भारत को सत्ता का हस्तान्तरण, भारतीय नौ सैनिकों का विद्रोह, पाकिस्तान के प्रस्तावित ढाँचे में असम को भी जोड़ने की मुस्लिम लीग की साजिश का है।

पाखी घोड़ा में आसाम के तत्कालीन प्रधानमंत्री गोपीनाथ बारदोलोई जैसे आदरणीय व्यक्ति पात्र के रूप में आते हैं। गोपीनाथ बारदोलोई का चरित्र एक ऐसा केन्द्रीय बिन्दु बन जाता है जिसमें जन-आन्दोलन के दौरान सभी राजनीतिक शक्तियां आकर सिमट जाती हैं। वे कैबिनेट मिशन योजना के विरुद्ध एक जुट होती हैं, क्षेत्रीय मानसिकता को राष्ट्रीय मानसिकता से जोड़ने का काम करती हैं और

इस प्रकार एक बड़े ढाँचे को सुगठित करने में योग देती हैं। इस उपन्यास की सीमाओं के भीतर रहते हुए अन्य पात्रों जैसे – चम्पा, माकन, फिरोजा, ओहाली, पंचानन, सदानन्द, फिरोजा का बाप, जयन्ति, आस्ट्रेलियाई नर्स, अमेरिकी प्रोफेसर स्मिथ तथा जापानी सिपाहियों जैसे चरित्र को अपने उपन्यास में उपन्यासकार ने रखा है ताकि अतीत के उस तनाव-भरे युग को पुनर्जीवित किया जा सके। चालीस के दशक में असम में मध्यवर्ग को सामाजिक परिवर्तन के संक्रान्ति काल के उस सर्वाधिक महत्वपूर्ण दौर में चित्रित किया गया है जब वह नैतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक संकटो के बीच में घिरा हुआ था। यद्यपि इस उपन्यास का पात्र पंचानन नैतिक बन्धनों को तोड़ने की हिम्मत कर लेता है पर ऐसा करते हुए वह अनजाने ही अपने परिवार को तोड़ने का एक कारण बन जाता है। हिंदी उपन्यास 'ढाई घर' में एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों की गहरी संवेदना अंकित है। इस उपन्यास के नायक हरी राय या बड़े राय अपनी संवेदनशीलता, गरिमा और करुणा में भव्य और नवीन है। हरी राय का वफादार घोड़े के प्रति प्रेम उनकी गहरी संवेदना का परिचायक है। उनका तिल-तिल टूटना बड़ा ही करुण है। परिस्थितियों से पराजित होते उन्हें देखते हुए, अपरिहार्य होने पर भी, कसक भरी सहानुभूति पैदा होती है उनके अंतिम समय में परिवार का आन्तरिक षड्यन्त्र ही तीन पीढ़ियों से चला आ रहा संयुक्त परिवार का टूटने का कारण बनता है। असमीया उपन्यास 'पाखी घोड़ा' और हिंदी उपन्यास 'ढाई घर' दोनों में ही परिवार का टूटना दिखाया गया है परन्तु इन परिवारों के टूटने के कारणों में भिन्नता यह है कि पाखी घोड़ा का पात्र पंचानन जब नैतिक बन्धनों को तोड़ता है तो परिवार का विखण्डन होता है, लेकिन 'ढाईघर' में परिवार के विखण्डन में पारिवारिक अंतर्कलह ही सहायक है।

प्रभास कुमार चौधरी के मैथिली उपन्यास 'राजा पोखरे में कितनी मछलियां' एक ढहती सामंती व्यवस्था और उसके भीतर से उपजे खोखले आदर्श एवं तीखे यथार्थ का जीवंत चित्रण किया गया

है। इस उपन्यास में प्रेम, त्याग समर्पण और कर्त्तव्य-भावना के बीच एक ऐसे नायक-चरित्र की लम्बी संघर्ष कथा है जो अपने आस-पास के भ्रष्टाचार, अत्याचार और अपसंस्कारों की त्रासदियाँ भोगने के लिए विवश हैं। उसकी नियति ढाईघर के नारी के भोग बन जाने की नियति के समान ही है। इस प्रकार मैथिली उपन्यास 'राजा पोखरे में कितनी मछलियां' तथा हिन्दी उपन्यास ढाईघर संवेदना की दृष्टि से दोनों ही बेजोड़ साबित होते हैं।

पंजाबी उपन्यास 'मनपरदेशी' कर्त्तार सिंह दुग्गल का विभाजन की त्रासदी पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास का स्त्री पात्र कुसदिया बेगम पति के मृत्यु तथा देश विभाजन के बाद रिश्तेदारों के समझाने पर भी देश छोड़कर पाकिस्तान जाने के लिए तैयार नहीं होती। देश छोड़कर पाकिस्तान न जाने का निर्णय के पीछे कुसदिया बेगम के जेहन में भारतीय संस्कृति के प्रति मोह तथा उसकी सुरक्षा का भाव कहीं न कहीं किसी रूप में विद्यमान है। तभी वह देश छोड़कर पाकिस्तान जाना नहीं चाहती' लेकिन बड़ी बेटी सीमा द्वारा अन्तर्जातीय विवाह करना, बड़ा बेटा जाहिद का पाकिस्तानी न बनने का निर्णय तथा छोटी पुत्री जेबा का हिन्दू युवक राजीव से विवाह करने की जिद्द आदि सारी घटनाओं ने कुसदिया बेगम को जड़ से हिला दिया तब वह पाकिस्तान जाने के लिए तैयार हो जाती है। अचानक महात्मा गाँधी की हत्या का समाचार ने माँ-बेटी की विचारधारा को बिल्कुल परिवर्तित कर दिया और वह पाकिस्तान जाने का इरादा छोड़ देती है। इस प्रकार कुसदिया बेगम के आत्मनिर्णय एवं दृढ़ता में कमजोरी झलकती है। छोटी बेटी जेबा के विवाह वाले प्रसंग में कुसदिया बेगम ये नहीं चाहती कि जेबा की शादी हिन्दू युवक राजीव से हो, परन्तु जेबा की इच्छा राजीव से ही शादी करने में है। दूसरी तरफ राजीव, जेबा को पाने के लिए हिन्दू धर्म परिवर्तित कर मुस्लिम बनने के लिए तैयार हो जाता है तब कुसदिया बेगम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। उपन्यासकार ने यहाँ पर मुस्लिम धर्म की अपेक्षा हिन्दूधर्म में लोचता दिखाया है, जो देश विभाजन के साथ-साथ संस्कृति में भी परिवर्तन

की तरफ संकेत है।

भारत अनेक धर्मों, जातियों और संस्कृतियों का देश है। यहाँ की बहुसंख्यक आबादी हिन्दुओं की है। उसके बाद मुसलमान है। ऐतिहासिक कारणों से हिन्दू और मुसलमान आरम्भ से ही प्रायः टकराव की स्थिति में रहे हैं। यद्यपि लगभग एक हजार वर्षों से एक साथ रहने से एक मिली-जुली संस्कृति का भी विकास होता रहा, पर मुसलमान अपनी आक्रामकता और हिन्दू अपनी कछुआधर्मिता के कारण दूध-पानी की तरह एक न हो सके। सत्ताधारियों और सत्ता-लोभियों ने अपने लाभ के लिए इन्हें टकराव की स्थिति में ही रखना बेहतर समझा। आजादी भारत के विभाजन की कीमत पर मिली और वह विभाजन मुसलमान को अलग राष्ट्र मान कर हुआ। भारतीय नेताओं ने इस धर्म पर आधारित राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया। भारतीय संविधान लागू होने के बाद भारत धर्म और जाति निरपेक्ष राष्ट्र बन गया, पर साम्प्रदायिक समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है और इसका कोई अन्त होता नहीं दिखाई देता। आजादी के बाद का उपन्यास साहित्य इस समस्या से निरन्तर जूझता रहा है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के भारतीय उपन्यासों में देश में साम्प्रदायिक सोच और भावना के प्रसार तथा उसके कारणों की पड़ताल की गयी है। हिंदी उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू', हमारा शहर उस बरस तथा गुजराती उपन्यास 'दीमक' की साम्प्रदायिक सोच की भावना में हिन्दू फासिज्म और मुस्लिम कट्टरपंथियों के बीच साम्प्रदायिकता है। हिंदी उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू' तथा गुजराती उपन्यास 'दीमक' की शुरुआत कर्फ्यू से ही होती है। 'शहर में कर्फ्यू' का शिक्षित एवं बौद्धिक तथा राजनीति का केन्द्र शहर 'इलाहाबाद' है, जबकि उपन्यास 'दीमक' का औद्योगिक शहर अहमदाबाद केन्द्र में है। देश के अन्य प्रांतों से अधिकांश लोग अपनी 'जन्मभूमि' छोड़कर रोटी कमाने अहमदाबाद आते हैं। यहाँ की कमाई भी, फिर यही पर लगा देते हैं।"[1] दूसरी तरफ 'शहर में कर्फ्यू'

का शहर इलाहाबाद में कर्फ्यू ने प्रतिदिन कमाओ खाओ वाली जिन्दगी तथा देह-व्यापार करके जीवन यापन करने वाली वेश्याओं को धीरे-धीरे फाँके के करीब पहुँचा दिया। इस शहर की साम्प्रदायिकता तब भड़की "जब तीन-चार लड़के मिर्जागालिब रोड .... गली से निकले और गाड़ीवान टोला के पास एक मन्दिर की दीवाल पर बम पटक कर वापस गली में भाग गये। जो चीज दीवाल पर पटकी गयी वह बम कम पटाखा ज्यादा थी। उससे सिर्फ तेज आवाज हुई कोई जख्मी नहीं हुआ। बम चूंकि मंदिर की दीवाल पर फेंका गया था इसलिए उस समय वहाँ मौजूद हिन्दुओं ने मान लिया कि बम फेंकने वाले मुसलमान रहे होंगे।"[2] इसका दुष्परिणाम यह होता है कि हिन्दुवादियों द्वारा मुस्लिमों पर प्रहार होता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के टकराव के मध्य पुलिस प्रशासन द्वारा कर्फ्यू लगाने से "मसलन शहर का एक हिस्सा पाकिस्तान बन गया और उसमें रहने वाले पाकिस्तानी।"[3] इस उपन्यास की स्त्री पात्र सईदा के लिए ये कर्फ्यू उसके जीवन में घटित होने वाली पहली घटना थी। सईदा के जीवन में एक खौपनाक अनुभव था परन्तु पड़ोसी सैफुन्नीसा के लिए ये नयी घटना नहीं थी। उपन्यास में एक ऐसी लड़की के रोमांस का चित्र प्रस्तुत किया गया है जिसका जाति-धर्म, नाम-पता कुछ भी नहीं है। कर्फ्यू लगने के कारण अन्धेरी गलियों के बन्द कमरें में उसका बलात्कार होता है जो आज के पुरुष की कमीनी हैवानियत का चिट्ठा प्रस्तुत करता है। गुजराती उपन्यास 'दीमक' का पात्र बचू को यह पहेली समझ में नहीं आ रही कि पीढ़ियों से चला आ रहा सौमनस्य जो बचू के विचार से प्रकट होता है जैसे – "मन-ही-मन उसने निश्चय कर लिया : अबकी बार घर जाऊँ तो साथ मैं कुरान-

---

1. केशुभाई देसाई – दीमक – पृ०सं० – 17

2. विभूतिनारायण राय – शहर में कर्फ्यू – पृ०सं० 10-11

3. विभूतिनारायण राय – शहर में कर्फ्यू – पृ०सं० – 24

ए-शरीफ भी ले जाऊँ। रोजाना एक-दो आयतें गुजराती में पढ़ सुनाऊं। हो सके तो 'रामचरितमानस' का गुटका भी साथ में ले जाऊँ। ईजूफूफी को सुनाऊँ और ढींगा को भी।"[1] इस तरह का विचार रखने वाले बचूमियॉ को अचानक वैमनस्य की आग ने लील लिया। देहात में रहते-रहते उसने कभी कल्पना तक नहीं किया था कि एक दिन शहर की साम्प्रदायिकता, गुण्डागर्दी उसके परिवार को नेस्तानाबूत करके छोड़ेगी।

इस प्रकार हिंदी उपन्यास 'शहर मे कर्फ्यू' तथा गुजराती उपन्यास दीमक की साम्प्रदायिक संवेदनाए लगभग समान है। दोनो ही उपन्यासों में साम्प्रदायिकता से उत्पन्न लाचारी, निराशा, हताशा, अव्यवहारिकता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। शहर में कर्फ्यू की "गम और मातम की रात इतनी धीरे-धीरे बीतती है कि लगता है वक्त थम गया है। ऐसी रात कैसे भी कटती नहीं दिखती-

किसी की शबे वस्ल सोते कटे है
किसी की शबे हीज्र रोते कटे है
ये कैसी शब है ,या इलाही
जो न सोते कटे है, न रोते कटे है।"[2]

इस प्रकार शहर में कर्फ्यू उपन्यास यथार्थ की जटिलताओं के बीच ऐसे बिन्दु पर छोड़ देता है जहाँ दया और करुणा नहीं उत्पन्न होती बरन् इस बात की प्रतीति होती है कि नपुंसकता और जड़ता एवं अलगाव पैदा करने वाली व्यवस्था आज भी समाज में बरकरार है, जो लोगों को नफरत सिखाती है और एक दूसरे से लड़ाती है। गुजराती उपन्यास 'दीमक' के नायक बचू की शहीदी के माध्यम से उपन्यासकार ने पूरे भारतवर्ष की स्थापित मूल्यपरक एवं सहिष्णु जीवन-रीति के सामने प्रश्न चिन्ह

---

1. केशुभाई देसाई – दीमक, पृ०सं० –51, प्र०सं० – 1993

2. विभूतिनारायण राय – शहर में कर्फ्यू, पृ०सं० – 62 प्र०सं०, 1986)

लगाया है तथा राष्ट्रीय अस्मिता के मूल को कुरेदने वाली इस दीमक के प्रति अंगुलि निर्देश भी किया है।

गीतांजलि श्री के हिंदी उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में भी हिन्दू साम्प्रदायिकता को कथानक का विषय बनाया गया है। उपन्यास में एक शहर है जहॉ एक मठ और एक विश्वविद्यालय है और ये दोनों ही संस्थाएँ साम्प्रदायिकता को हवा देती हैं। उपन्यास का 'मठ' हिन्दू साम्प्रदायिकता का प्रतीक है। यह साम्प्रदायिकता गुजराती उपन्यास 'दीमक' तथा हिन्दी उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू' की ही तरह फांसीवादी रहस्यपूर्ण और आतंक से भरी दुनिया का सृजन करती है। उपन्यास का नाभिकेन्द्र साम्प्रदायिक तनाव की असामान्य स्थिति में एक मुस्लिम पात्र के अकेला होने और अलग-थलग पड़ते जाने की मानसिकता में निहित है। इस तनाव की आड़ में विश्वविद्यालय की राजनीति भी सक्रिय है। साम्प्रदायिकता के शिकार एक उदार बुद्धिजीवी का चित्रण बहुत प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है पर गीतांजलि श्री का साम्प्रदायिकता सम्बन्धी विजन बहुत धुँधला और एकांगी है। इसी कारण वे उपन्यास में किसी जीवन्त कथा संसार की रचना नहीं कर पायी हैं। इस उपन्यास में संवेदना नये सौन्दर्य के साथ जीवन दृष्टि को समृद्धि करती हैं। इस उपन्यास का पात्र दद्दू हंसता है उसके हंसी में देश की हालत को लेकर वेदना है। वह कहता है – ''गोडसे बेकार बुरा बना, गोलियां नाहक बरबाद की, खुद ही बुड्ढा आज तक आते-आते ढेर हो जाता। उसका कलेजा कहां कि ये सब देख पाता। पूरे उपन्यास में विश्वविद्यालयी गतिविधियां समानांतर चलती हैं आपसी डाह, ईर्ष्या द्वेष दूसरों की तरक्की को अपनी असफलता माना जाता है।''[1] साम्प्रदायिकता का तूफान गुजर चुका है। तूफान का खौफ बाकी है आज की हिन्दू, हिन्दू बहुल इलाके में मकान तलाशता है और मुसलमान,

1. अक्षरा – प्रधान सम्पादक गोविन्द मिश्र, अंक – अक्टूबर-दिसम्बर-2000, पृ० – 105

मुसलमान बहुल इलाके में। इस उपन्यास की स्त्री पात्र श्रुति और उसके मुस्लिम पति हनीफ के बीच कोई चीज अनचाहे हस्तक्षेप कर रही है। श्रुति हनीफ से विवाह करके भी हिन्दू है और हनीफ श्रुति का सर्वस्व होकर भी मुसलमान। सड़क पर साथ चलते समय श्रुति का हृदय इसी बदलाव को टटोलता है। श्रुति के अंदर सुरक्षा को लेकर संदेह है। इसी संवेदना को उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में उभारने की कोशिश की है।

समकालीन भारतीय उपन्यासों के भीतर उड़िया उपन्यास 'उत्तरमार्ग' मे उपन्यासकार ने कथावस्तु की दृष्टि से उड़ीसा के खास अंचल के उन अख्यात स्वतन्त्रता-सेनानियों के त्यागपूर्ण एवं मार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है जिनके सक्रिय सहयोग के बिना भारत की आजादी की गाथा अधूरी रहती है। ये वो स्वतंत्रता सेनानी है जिसकी गौरवगाथा को स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी भारतीय इतिहास के पन्नों में अभी तक लिपिबद्ध नहीं किया गया है। ऐसे ही स्वतंत्रता सेनानी जैसे – हरि विश्वाल, दिगन्त केशरी, मदन जेना, परशुराम, श्याम पुहाण तथा स्त्री स्वतंत्रता सेनानी रमादेवी, साध्वी और मैथिली आदि आंचलिक सेनानियों की तपःभूमि एवं साहसिक जीवन से जुड़े संदर्भों का कथावस्तु का आधार बनाया गया है इस उपन्यास के कथानक के बीच-बीच में ज्ञान एवं धार्मिक उपदेशों जैसे महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि के जय-जयकार और नारों आदि के आने से कथा रोचक हो गयी है। इस प्रकार इस उपन्यास की कथा जितनी सशक्त और विचारपरक है, उतनी मार्मिक और रोचक भी है। अपनी संवेदना में यह उपन्यास अकेला है।

हिन्दी उपन्यास 'कलि-कथा : वाया बाइपास' और 'पीली आँधी' दोनों में ही मारवाड़ी समाज की क्रमशः पाँच एवं तीन पीढ़ियों के जीवन संघर्ष और उस समाज में स्त्री की पीड़ा और विद्रोह की कथा को उपन्यासकारों ने कथानक का विषय बनाया है। कलि-कथाः वाया बाइपास की कथा में प्लासी युद्ध (1757) में अँगरेजों का साथ देने वाले अमीचन्द से लेकर बाबरी ढाँचा विध्वंस तक की कथा ही नहीं,

लालू, राबड़ी, सोनिया और बहुराष्ट्रीय कंपनियों तक के प्रसंग भी आ गये हैं। इतना ही नहीं इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र रामकिशोर बाबू की विक्षिप्तता-जन्य फैंटेसी के रूप में इक्कीसवीं सदी में पर्यावरण के प्रदूषण, पेट्रोल के खत्म हो जाने से मोटरों के बेकार होने, कल-कारखानों के बन्द होने, हाथ से काम करने वालों की हैसियत बढ़ने आदि की चर्चा भी आयी है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि पीली आँधी की तुलना में 'कलि-कथाः वाया बाइपास' में कथ्य का आयाम अधिक फैला हुआ है पर इसी कारण इसमें बिखराव भी आ गया है। इस उपन्यास के बहुत सारे प्रसंग आरोपित प्रतीत होते हैं।

मुख्य कथा की पृष्ठभूमि में स्वाधीनता संघर्ष, बँगाल की दयनीय स्थिति, 1943 का अकाल, सुभाषचन्द्र बोस और महात्मा गाँधी की हत्या, साम्प्रदायिक हिंसा आदि के प्रसंग गहरी संवेदना के साथ अंकित होने पर भी अलग-अलग झलकियों जैसे प्रतीत होते हैं। मारवाड़ी औरतों की पीड़ा भी इस उपन्यास में मार्मिक रूप में उभरती है, पर वह कहीं भी पंजाबी उपन्यास 'परसा' की मुख्तार कौर, बँगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन' की कावेरी, तथा हिंदी उपन्यास 'आवाँ' की ममता, गौतमी, स्मिता, शैलूष की सावित्री, गोपुली गफूरन की गोपुली, बसन्ती की बसन्ती झूलानट की शीलों, चाक की सारंग तथा ढाई घर की भास्कर राय की पुत्री सोना आदि नहीं है जो विद्रोह की मुद्रा में खड़ी दिखाई देती हो बल्कि वह मलयालम उपन्यास 'कालम्' की सुमित्रा, तंकमणी, तथा हिंदी उपन्यास 'दिलोदानिश' की कुटुम्ब प्यारी, 'अग्निगर्भा' के सीता तथा 'कुन्तो' उपन्यास की कुन्तों की भाँति पूरी तरह से नारी संहिता का पालन करने वाली औरतें हैं।

इस व्यापक और वैविध्यपूर्ण कथ्य की प्रस्तुति के लिए अलका सरावगी ने रामकिशोर बाबू के बाइपास सर्जरी के कारण विक्षिप्त होकर अतीत को जीने लगने की जिस प्रविधि का आविष्कार किया है वह चमत्कारपूर्ण है। इस प्रविधि के साथ रामकिशोर बाबू की डायरी का उपयोग करके सरावगी

ने अपने कथाशिल्प को चमत्कारपूर्ण ही नहीं बल्कि कथा के लिए आवश्यक भी बना दिया है।

पीली आँधी उपन्यास में एक मारवाड़ी परिवार के तीन पीढ़ियों की संवेदना से भरी कथा है। 'पीली ऑंधी' प्रतीक है सब कुछ उजड़ जाने का; इस आंधी के बाद कैसे एक छोटा सा अॅकुर फूटता है और वह फलने-फूलने लगता है, यही इस उपन्यास का केन्द्रीय वस्तु है। इस उपन्यास में एक परिवार नहीं बल्कि कुल है, संयुक्त परिवार है। यह राजस्थान के उन लोगों की जीवन कथा है जो प्रकृति की मार और सामंती शोषण की विभीषिका से बचने के लिए अपनी पूरी संस्कृति के साथ विस्थापित होने के लिए मजबूर हुए यह एक 'पीली आँधी' थी जिसमें मारवाड़ी परिवार पत्तों की तरह उड़ते हुए बँगाल, बिहार आदि स्थानों पर पहुँचकर अपना नया भाग्य गढ़ने का प्रयत्न करते थे। उपन्यासकार ने मारवाड़ियों की शान शौकत के पीछे छिपे संघर्ष के साथ-साथ उनके जीवन से जुड़े संस्कृतियों तथा जीवन के अंतर्विरोधों को भी इस कथा में उभारा है। वस्तुतः यह राजस्थान की रेतीली जिन्दगी का, जो बँगाल पहुँचकर समृद्धि के साथ-साथ उमस और सीलन से भी युक्त हो गयी और अब उससे भी उबरने का प्रयास कर रही है। जिन्दगी चाहे रेतीली हो या सीलन भरी, दोनों ही पीड़ादायक है और इनसे संघर्ष करना, मुक्त होने के लिए छटपटाना मनुष्य की नियति है। हिन्दी उपन्यास में राजस्थान के मारवाड़ी समाज की व्यथा कथा प्रस्तुत करने वाला यह कदाचित् पहला उपन्यास है। वैसे अलका सरावगी के हिंदी उपन्यास 'कलि-कथा : वाया बाइपास' भी मारवाड़ी समाज के जीवन से जुड़ा हुआ उपन्यास है लेकिन इसका समाज राजस्थानी समाज नहीं है।

मारवाड़ी समाज के दर्द, उनके अपनी जमीन से कट जाने का दुःख, जी-तोड़ परिश्रम आदि का प्रभा खेतान ने अपने इस उपन्यास में अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है।

उपन्यासकार में इस जीवन की गहरी संवेदना और विश्लेषण-क्षमता है जिसके चलते वे मारवाड़ी

समाज की अन्ध परम्पराओं, उनकी रूढ़ संस्कारों में जकड़ी, धुआंती, टूटती जिन्दगी के चित्रण मे उसे अद्भुत सफलता मिली है।

पात्र की दृष्टि से प्रभा खेतान का औपन्यासिक संसार अनेक प्रकार के सजीव पात्रों से जगरमगर है। मानवीय सम्बन्धों का ऐसा प्रीतिकर संसार उपन्यास में दुर्लभ होता है। ऐसा नहीं कि इनके उपन्यास में ओछे पात्र और उनकी कमीनी हरकतें नहीं है, पर मानवीय करुणा और विवेक से भरे पात्र उन पर भारी हैं। इस कथा संसार में प्रेम की संवेदना एक अन्तर्धारा के रूप में बहती दिखाई देती है। ताई जैसे चट्टानी व्यक्तित्व के भीतर रिसती हुई प्रेम की संवेदना का अंकन तो अद्भुत है। सीमा और सुजीत का प्रेम आवेग और विवेक के मिश्रण की दृष्टि से बेजोड़ है।

शिल्प की दृष्टि से 'पीली आँधी' में कोई चौकाने वाला प्रयोग नहीं है, पर अपने विषय के अनुरूप शिल्प और भाषा के चुनाव में उन्होंने सर्जनात्मक सजगता का परिचय दिया है। उपन्यासकार ने 'पीली आँधी' में दृश्यात्मक-परिदृश्यात्मक, अन्तरालाप और डायरी प्रविधि का सर्जनात्मक उपयोग किया है। इस तरह से समकालीन भारतीय उपन्यासों के भीतर मारवाड़ी समाज से जुड़ी संवेदना हिंदी उपन्यास 'पीली आँधी' और 'कलि-कथा : वाया बाइपास' के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में दिखाई नहीं देता। अतः ये दोनों हिन्दीं उपन्यास अपनी संवेदना में अकेले हैं।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन तेज हुआ। इस आन्दोलन में प्रमुख भूमिका गाँधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी की रही पर गौण रुप में हिंसात्मक क्रांतिकारी दलों, किसान आन्दोलनों और साम्यवादी पार्टी ने भी इसमें योगदान किया फलस्वरूप 1947 ई० में देश को आजादी मिली। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का शासन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में आ गया। ताकत भ्रष्टाचार को जन्म देती है, एक सुपरिचित तथ्य है। सत्ता में आते ही नेताओं के चरित्र

के दुर्बल पक्ष उभर कर सामने आने लगे। यद्यपि संविधान में भारत को 'समाजवादी गणतन्त्र' कहा गया, पर सामन्ती और पूँजीवादी ताकतों ने राजनीति में प्रवेश कर अप्रत्यक्ष रूप में उस पर अपना कब्जा जमा लिया। पार्टी नेतृत्व इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने में समर्थ नहीं हुआ अथवा अपना जनाधार कमजोर होते देख उसने इसके सामने घुटने टेक दिये। धीरे-धीरे संसद और विधान सभाओं में चुनाव जितने के लिए पैसे का महत्व बढ़ता गया और इसके साथ-साथ सामन्तों, जमींदारों, भूमिपतियों और पूॅजीपतियों का शासन-तन्त्र पर प्रभाव भी बढ़ता गया। इसी के अनुपात में आर्थिक भ्रष्टाचार में भी वृद्धि हुई। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रीयतावाद, और इनसे जुड़े षड्यन्त्रों का तो प्रवेश राजनीति में हुआ ही, साथ ही सत्ता बनाये रखने के लिए चरित्रहीन सांसदों को रिश्वत भी दी जाने लगी। आज तो रिश्वतखोर, तस्कर, डकैत, आर्थिक घोटाला करने वाले, सत्ता का दुरुपयोग करके धन जमा करने वाले, करोड़ो का आयकर हड़प जाने वाले सभी प्रकार के अपराधी प्रवृत्ति वाले राजनीति पर काबिज हो गये हैं। इसका जीता जागता उदाहरण श्रीलाल शुक्ल का हिंदी उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' है। अपने इस उपन्यास में शुक्ल जी ने ऐसे पाखंडी नेता का चरित्र प्रस्तुत किया है, जो बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाते हुए एक बड़े राज्य के राज्यपाल की कुर्सी हासिल करता है किसी कारण कुर्सी छिन जाने पर सन्त की छद्म भूमिका अपना लेता है। वह उन नेताओं का प्रतीक है जो पर्दे के पीछे से पद पाने के लिए जोड़-तोड़ करते हैं, पर ऊपर से निर्विकार बने रहने का नाटक करते हैं। सत्ता से वंचित हो जाने पर भी उनका एशो आराम की जिन्दगी जीने का अभ्यास नहीं छूटता। इस उपन्यास में गौण कथ्य के रूप में एक ही स्त्री के प्रति राजनेता पिता और बुद्धिजीवी पुत्र दोनों के प्रेमाकर्षण की विडम्बना का चित्रण भी हुआ है जिसका तनाव न झेल पाने के कारण पिता आत्मघात का विकल्प अपनाता है। उपन्यास में भूदान आन्दोलन के खोखलेपन, छद्म और उसकी दयनीय असफलता का भी अंकन किया गया है, पर राजनेता की स्मृतियों और चालाकियों से निर्मित इस कथा जाल में भूदान आन्दोलन और

भूमि समस्या उपन्यास की केन्द्रीय समस्या नहीं है। कुल मिलाकर समकालीन राजपुरुषों के चरित्र की विडम्बना की प्रस्तुति ही उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य है।

इस उपन्यास में शुक्ल जी ने व्यंग्य को उपन्यास पर हावी नहीं होने दिया है, जबकि 'रागदरबारी' पर व्यंग्य हावी है। श्रीलाल शुक्ल जी का एक अन्य उपन्यास 'पहला पड़ाव' में तो व्यंग्य ने उपन्यास को पूरी तरह से क्षतिग्रस्त कर दिया है। इस उपन्यास मे समकालीन समाज की विसंगतियों पर सटीक और करारा व्यंग्य किया गया है, पर जब इनमें औपन्यासिक विजन अथवा मानव सम्बन्धों की जीवन्त संवेदनाओं से भरपूर कथा संसार की तलाश करते हैं तो निराश होना पड़ता है। 'पहला पड़ाव' के कथा के केन्द्र में बड़े शहर में बनने वाले विशाल भवनों के इर्द गिर्द की जिन्दगी है जिसमें इन भवनों के प्रबन्धक, ठीकेदार, इंजीनियर, मेठ और मुंशी मजदूरों का शोषण करते हैं और स्वयं भ्रष्टाचार की जिन्दगी जीते हैं। 'पहला पड़ाव' में भी आज की जिन्दगी की विसंगतियों पर चौतरफा प्रहार ही लेखक का उद्देश्य बन गया है और संवेदनाओं का कोई भरा पुरा संसार निर्मित नहीं हो पाया है। 'पहला पड़ाव' में व्यंग्य का मुख्य माध्यम शब्द क्रीड़ा और भाषा का खिलवाड़ है, इसलिए उसमें संवेदनशीलता का अभाव है। लम्बे-लम्बे वाक्यों से भरे वर्णन व्यंग्य की चासनी के कारण ऊब तो नहीं पैदा करते पर उनसे मार्मिक प्रसंगों का निर्माण भी नहीं होता।

सामान्यतः परम्परागत वर्ण-व्यवस्था में शूद्र और पंचम वर्ण के अंतर्गत आने वाले समुदाय को, जो सवर्णों द्वारा अस्पृश्य माना जाता रहा है, 'दलित' कहा जाता है। इनमें आदिवासी एवं जनजाति वर्ग भी शामिल है।

नव जागरण की अवधारणा में 'दलित' समुदाय के उत्थान का भाव भी शामिल था पर सनातनधर्मी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक इसके पक्ष में नहीं थे। वस्तुतः हिंदी में प्रेमचन्द के कथा-

साहित्य से सहानुभूतिपूर्ण दलित-विमर्श प्रारम्भ हुआ और अनेक समकालीन तथा परवर्ती उपन्यासकारों ने दलितों का सहानुभूतिपूर्ण चित्र अपने उपन्यासों में अंकित किया। आजादी के बाद भैरव प्रसाद गुप्त और नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में जमींदारों द्वारा दलित वर्ग के पात्रों के आर्थिक और दैहिक शोषण का, जिसमें दलित वर्ग के स्त्रियों का यौन-शोषण भी था गहरी संवेदना और वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ अंकन किया। धीरे-धीरे बीसवीं शताब्दी तक आते-आते अधिकांश भारतीय उपन्यासकारों ने दलित जीवन को अपने उपन्यासों का केन्द्रीय समस्या बनाया। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में दलित जीवन से जुड़े हिंदी उपन्यास शिव प्रसाद सिंह का 'शैलूष' जिसमें विन्ध्य क्षेत्र के नटों के कबीलाई जीवन को उपन्यास का विषय बनाया गया है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में बुन्देलखंड क्षेत्र में रहने वाली 'कबूतरा' जाति के जीवन-यथार्थ का चित्रण किया गया है। शैलेश मटियानी के 'गोपुली गफूरन' में स्त्री की अदम्य जिजीविषा, आत्मविश्वास, संघर्ष की अद्‌भुत क्षमता की प्रतीक है गोपुली जो दलित समाज की स्त्री होने पर भी उसके चरित्र में जो तेजस्विता है वह अनूठी हैं; उसमें कोई कुंठा नहीं, पराजय का भाव नहीं, वह न डरती है न हारती, न खरीदी या बेची जा सकती है। उसकी ऊपर से दिखाई देने वाली हार में भी उसकी जीत ही फुँफकारती हुई सुनाई पड़ती है। उसके चरित्र में एक आदिम नारी और माँ पुरी तरह से विद्यमान है। वह अपने अनुभवों से औरत होने का अर्थ जानती है।

लक्ष्मण गायकवाड़ का मराठी उपन्यास 'उठाईगीर' में पद दलित समाज के जीवन से जुड़ी समस्याओं, उनके रहन-सहन, खान-पान, संस्कृति जनजातियों में व्याप्त अंधविश्वास, गरीबी से उत्पन्न चोरी तथा वर्दीधारी सरकारी तंत्रों द्वारा इन जनजातियों के शोषण का चित्रण किया गया है।

व्यंकटेश दि० माडगूलकर के मराठी उपन्यास 'बनगरवाड़ी' में महाराष्ट्र के एक छोटे से गाँव

'बनगरवाड़ी' के बहाने पद दलित समाज की समस्याओं, उनके बीच जीते-भोगते मनुष्य के बहुरंगी यथार्थ तथा गँवई जीवन को अधुनातन संवेदना के साथ आत्मीय अभिव्यक्ति दी गयी है। इसी प्रकार तोफिल मुहम्मद मीरान के तमिल उपन्यास 'बन्दरगाह' में भी ऐसे ही पद दलित समाज का वर्णन किया गया है जो अंधविश्वासों और दकियानूसी विचारों से जड़ीभूत है। आर्थिक रूप से ताकतवर जमींदारों और पूंजीपतियों के चंगुल में फंसकर निरन्तर घुटन महसूस कर रहा है और नई सभ्यता की रोशनी के लिए अभेद्य उस समाज में जीने वालों के लिए भूख और फाकामस्ती उनके जिन्दगी का अंग बन गयी है। मजहब के नाम पर अंधविश्वास इनका राजा है। कौमी और दीनी नेता गरीबों के शोषण के लिए एक औजार के रूप में मजहब का इस्तेमाल करते हैं। असमीया उपन्यास मत्स्यगंधा मे असम प्रांत में बसी जनजातियों की गरीबी, सामाजिक विसंगतियों, निरक्षरता, छूआछुत का भेदभाव, वासना, संयुक्त परिवार का टूटना, आक्रोश, निराशा, हताशा आदि का यथार्थपरक संवेदनाए अंकित की गयी है।

निष्कर्षत: देखा जाय तो संवेदना के धरातल पर हिंदी उपन्यास शैलूष, अल्मा कबूतरी, गोपुली गफूरन, मराठी उपन्यास उठाईगीर, बनगरवाड़ी, तमिल उपन्यास बंदरगाह तथा असमीया उपन्यास मत्स्यगंधा आदि इन सभी उपन्यासों में समान रूप से गरीबी, शोषण, सामाजिक विसंगतियां, हताशा, निराशा तथा विद्रूपता आदि संवेदनाओं को स्त्री या पुरुष पात्रों के माध्यम से चित्रित किया गया है।

आजादी के बाद कस्बों, छोटे शहरों, नगरों और महानगरों के परिवेश पर आधारित हिंदी उपन्यासों की संख्या में जबरदस्त वृद्धि हुई है परन्तु बँगला तथा उर्दू को छोड़कर अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में महानगर या शहरी जीवन से जुड़े उपन्यास दिखाई नहीं देता है। हिंदी उपन्यासों में महानगरी केन्द्रित होने का प्रमुख कारण यह है कि अधिकतर लेखक कस्बों, शहरों, नगरों

और महनगरों में रहते हैं और प्रायः इसी क्रम में उनका गाँवों से महानगरों में आव्रजन भी होता रहता है। भारतीय महानगरों में दिल्ली, मुम्बई और कलकत्ता हिंदी उपन्यासों में प्रमुख रूप से उपस्थित है। यह एक रोचक तथ्य है कि दिल्ली, मुम्बई और कलकत्ता महानगरों से सम्बद्ध उपन्यासों में कथ्य विषयक तीखा वैविध्य है। इसका कारण कदाचित् यह है कि इन महानगरों के चरित्र एक जैसे नहीं है। दिल्ली के परिवेश पर आधारित उपन्यासों में अभिजात और पूँजीपति – उद्योगपति वर्ग का चित्रण न के बराबर मिलता है। कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यास 'दिलोदानिश' में आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व के दिल्ली के अभिजात समाज के पारिवारिक और नैतिक द्वन्द्व का और 'समय सरगम' में उच्चमध्यवर्गीय वरिष्ठ नागरिकों की असुरक्षा, अकेलापन और सन्त्रास की छाया में जीने की नियति का अंकन किया है। गोविंद मिश्र के उपन्यास 'फूल इमारतें और बंदर' में दिल्ली के परिवेश में दफ्तरशाहों और राजनेताओं के जीवन के छद्म और दफ्तर तथा राजानीति के खेल का विश्वसनीय चित्रण किया है। 'बसन्ती' में भीष्म साहनी ने महानगर दिल्ली में लगातार बनने वाली कालोनियों या विहारों के साथ-साथ निर्मित झुग्गी-झोपड़ियों वाली गन्दी बस्तियों के परिवेश तथा उसमें रहने वाले निम्नवर्गीय समाज के पारिवारिक सम्बन्धों, आर्थिक समस्याओं और नैतिक मूल्य संकटों का अंकन किया है। इन अस्थायी बस्तियों की भी अपनी एक व्यवस्था, एक जीवन पद्धति, एक जीवन संस्कृति होती है। सारे अस्थायित्व के बावजूद जीवन अपनी समस्त धड़कनों के साथ इन बस्तियों में स्पंदित होता है। अतः उपन्यासकार ने इन गंदी बस्तियों से जुड़े जीवन की धड़कन को, उस व्यवस्था से टकराव को उसकी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है।

दिल्ली की तुलना में मुम्बई को केन्द्र में रखकर महानगरीय जीवन के चरित्र को प्रस्तुत करने का प्रयास किंचित् अधिक हुआ है। मटियानी के आरम्भिक उपन्यासों में मुम्बई की अपराध और गलजात भरी जिन्दगी, अकूत वैभव के नीचे पलते हुए विलास और व्यभिचार, नारी की अतृप्ति और

घुटन, महानगरीय जीवन के अंतर्विरोध, महानगरी मे पलने वाले आवारा समाज, मुम्बई की रगों में पल रहे अत्याचार और शोषण मुम्बइया चालों की कबूतरखाने की जिन्दगी, सेठों के घरों से लेकर वेश्याओं के कोठों तक और आलीशान होटलों से लेकर चमकते चौराहों तक चलने वाले देह व्यापार आदि का अंकन प्रामाणिक, पर प्राकृतिकवादी शैली में किया गया है। नारी विषयक विमर्श में भी अनेक उपन्यासकारों ने महानगरीय परिवेश का उपयोग किया है। सुरेन्द्र वर्मा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्‌गल, गीतांजलि श्री, राजीसेठ, आदि के उपन्यासों में महानगरीय परिवेश पूरी विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में महानगर मुम्बई की बाजारवादी अर्थ संस्कृति में बढ़ते हुए अपराध और सेक्स का चित्रण किया गया है। "मेरी दृष्टि में पुरुष की जिम्मेदारियों का सबसे संगीन दबाव यहीं से शुरू होता है। ... के बाद यह शैया-शैली का बहुत नाजुक मोड़ है। कुछेक अधम प्रेमी ऐसे होते हैं, जो 'कांक्वेस्ट' का इज्हारे-गुरुर करने लगते हैं। संवेदनशील प्रेमिका को चोट पहुँचाने वाला इससे गहरा वार दूसरा नहीं हो सकता। कुछ पतित प्रेमी ऐसे होते हैं, जो करवट बदलकर खर्राटे भरने लगते हैं।"[1] इस उद्धरण से नारी के प्रति सेक्स की भावना की अनुभूति होती है। मनोहर श्याम जोशी के कुरु-कुरु स्वाहा में भी मुम्बई के परिवेश में महानगरीय जीवन की विसंगतियां, अनिश्चितताओं, नैतिक मूल्यों तथा वहाँ के रहन-सहन, भागदौड़ रहस्यमयता, देहव्यापार, षड्यन्त्र आदि का चित्रण किया गया है। चित्रा मुद्‌गल ने अपने उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में बम्बई के महानगरीय परिवेश में विज्ञान-जगत के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, तिकड़म देह-व्यापार आदि का चित्रण किया है। उन्हीं के उपन्यास 'आवाँ' में एक नौजवान लड़की का जीवन-संघर्ष प्रस्तुत किया गया है, जो एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्मती-बढ़ती है और महानगर के जलते हुए परिवेश में अपने को संघर्ष के लिए तैयार करती है। इसके साथ ही उपन्यास में पृष्ठभूमि

1. सुरेन्द्र वर्मा – दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, पृ०सं० –63

के रूप में मजदूर संघों के कार्यकलापों तथा उनकी अंतरिक राजनीतिक, उठापटक आदि का चित्रण किया गया है। आवाँ उपन्यास में लेखिका की वर्णन क्षमता अन्य लेखकों से भिन्न तथा अद्‌भुत है। प्रसंगों के बीच अचानक प्रसंग उठा लेना और छोड़ देने की शैली का प्रयोग आवॉ में किया गया है। नये बिम्बों और नये प्रतीकों के प्रयोग रचना को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं कुछ व्यंजनाएं हैं – ''सुख की ही बिरादरी नहीं होती, दुःख का अपना कुटुम्ब भी छोटा नहीं होता।'[1] 'पश्चाताप आदमी को बरगलाता नहीं सही रास्ते पर लाता है।'[2] ''होंठ खौलते पतीले पर पड़े ढक्कन-से फड़फड़ाए'[3], ''दरियादिली मुह का कुल्ला हो गयी''[4] अँजुरी भर पानी खाए सुलगते चैले-सा धुआँ आया''[5] कुल मिलाकर 'आवाँ' जमीनी हकीकतों पर टिका, देखे-सुने, जाने-बूझे पात्रों से युक्त उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। कथानक में बाँधे रहने की सामर्थ्य है। इस उपन्यास में अन्ना साहब का चरित्र निरन्तर क्षरणशील मजदूर नेता के रूप में उभरा है। वृहत्तर रूप में देखा जाए, तो आज के अधिकांश नेताओं का यह राष्ट्रीय चरित्र हो गया है। नमिता अपनी माँ के साथ ''श्रमजीवा'' संस्था में पापड़ बेलने के काम पर जाने लगती है, घर पर फाल लगाने का भी काम करती है। पर ये काम उसे पसन्द नहीं है। एक ट्रेन यात्रा के दौरान अचानक अंजना वैसवानी नामक भद्र समृद्ध महिला से भेंट होती है।

---

1. चित्रामुद्‌गल – आवाँ, पृ०सं० – 372
2. वही '' वही '' पृ०सं० – 466
3. वही '' वही '' पृ०सं० – 388
4. वही '' वही '' पृ०सं० – 256
5. वही '' वही '' पृ०सं० – 295

आभूषण का व्यापार करने वाली यह महिला नमिता को नौकरी देती है। नमिता नौकरी करते हुए वह धनाढ्य आभूषण-व्यापारी संजय कनोई के संपर्क में आती है। विवाहित, पर निःसंतान संजय के प्रेम-जाल मे नमिता फँस जाती है जिसकी परिणति गर्भवती होने में होती है। हैदराबाद में प्रशिक्षण के दौरान अन्ना साहब की हत्या का समाचार पाकर उसका गर्भपात हो जाता है। आहत नमिता पाठ्यक्रम अधूरा छोड़कर मुंबई वापस आकर "कामगार अघाड़ी" के लिए काम करने का निर्णय लेती है। इस प्रकार एक मजदूर की बेटी का शुरू में मजदूर-राजनीति से मोहभंग होता है और वह समृद्धों की दुनिया में कदम रखती है पर वहाँ की हालत ज्यादा बदतर पाकर पुनः मजदूरों के बीच काम करने का मन बनाती है।"[1] इस प्रकार इस उपन्यास में एक ही साथ कई कथाएं, उपकथाएँ और चरित्र हैं जो निश्चित ही इस उपन्यास की विशेषता है तथा हिंदी उपन्यास की निजता झलकती है। अहिंदी भाषी क्षेत्र के उपन्यासों में इस तरह के कई कथाएं, उपकथाएं एक साथ देखने को नहीं मिलता है। इसलिए निःसंदेह कहा जा सकता है कि हिंदी उपन्यास की ये निजता एवं उसकी विशेषता है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' में मुम्बई के सिनेमा जगत् के ग्लैमर, संघर्ष और काम-सम्बन्धों का चित्रण किया गया है। दिल्ली और मुम्बई की तरह कलकत्ता महानगर को भी कुछ उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की पृष्ठभूमि के रुप में चुना है। बँगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन', हिंदी उपन्यास पीली आँधी, कलि-कथा : वाया बाइपास आदि उपन्यासों में कलकत्ता से जुड़े जीवन संदर्भो को चित्रित किया गया है।

महानगरों के साथ-साथ लखनऊ, कानपुर, वाराणसी, इलाहाबाद, पटना, भोपाल, अहमदाबाद आदि छोटे-छोटे शहरों को समकालीन भारतीय उपन्यासों ने अपनी कथाभूमि के रूप में चुना है यों

---

1. संपा० आग्नेय – साक्षात्कार पृ०सं० 103 अंक मार्च 2000

तो लखनऊ अनेक उपन्यासों की कथाभूमि के रूप में उपस्थित है। कुर्रतुलऐन हैदर का उर्दू उपन्यास 'चाँदनी बेगम' मे लखनऊ शहर की 'रेडरोड' की कोठी और उसके इर्द रचे-बसे बदलते समाज तथा रिश्तो और चरित्रों की रंगारंग तस्वीर आदि का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है हिंदी 'उपन्यास पीढ़ियां' में भी उपन्यासकार ने लखनऊ को कथा भूमि का केन्द्र बनाया है। शिव प्रसाद सिंह ने अपने तीन उपन्यासों – वैश्वानर, नीलाचाँद, और गली आगे मुडती है में काशी के वैदिक कालीन अतीत से लेकर बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तक के विविध रूपो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

समकालीन उपन्यास साहित्य के अंतर्गत डोगरी उपन्यास 'अंधी सुरंग' की कथा की पृष्ठभूमि जम्मू-कश्मीर का वह हालात है जिन्होंने वहाँ आज की दुर्दशा को जन्म दिया है। उपन्यासकार द्वारा अपने उपन्यास के कथाभूमि के लिए ऐसे स्थान का चुनाव करना अपने आप में महत्वपूर्ण है जहाँ देश भक्ति की कसौटी पर व्यक्ति को परखा जा सकता है। इसी कसौटी पर खरा उतरता हुआ 'चरण' देश भक्ति की भावना से विद्यालय का छात्र न रहते हुए भी छात्रों की उचित मांगों में सहयोग करता है तथा चोटिल हो जाता है। ये सभी चरण के सिद्धांतों को दृढ़ता पहुँचाते हैं। चरण के इस सिद्धांत की परिणति यह होती है कि वह समय की अंधी सुरंग से गुजरते हुए वह सारी यातनाओं को उसे सहने के लिए मजबूर होना पड़ता है जिसकी उसने कल्पना तक नहीं की थी। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में चरण की वेश्यावृत्ति को संवाद शैली में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह उपन्यास संवेदना की दृष्टि से अकेला है।

❑❑❑

पंचम अध्याय

अनूदित उपन्यासों के विशेष संदर्भ में हिंदी उपन्यासों की भिन्नता एवं विशेषता

हिंदी उपन्यासों तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अनूदित उपन्यासो में कथावस्तु को लेकर कुछ समानता तथा कुछ भिन्नता अवश्य है। अहिंदी भाषी क्षेत्र के उपन्यासों में कथा का क्षेत्र अपने ही प्रांतों से जुड़ी घटनाओं एवं समस्याओं को लक्ष्य करके लिखा गया है, जबकि हिंदी उपन्यासों में हिंदी भाषा का व्यापक क्षेत्र होने के कारण उसका कथा क्षेत्र भी व्यापक हो गया है। दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश उत्तर प्रदेश आदि हिंदी भाषी क्षेत्र है। यह एक प्रकार से उत्तर भारत है। इन क्षेत्रों से जुड़ी घटनाओं एवं समस्याओं को हिंदी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों का विषय क्षेत्र बनाया है। राजनीति तथा सामाजिक उथल-पुथल का उत्तर भारत केन्द्र रहा है। भारत में हलचल पैदा करने वाली घटनाये पहले उत्तर भारत के फलक पर ही उभरती हैं। वे राष्ट्र की सांकेतिक समस्यायें लेकर आती हैं। हिन्दी उपन्यासों में उनकी विशेष प्रस्तुति है, जो किसी भी अनूदित उपन्यास में दिखाई नहीं देती। हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में ग्रामीण-जीवन को समान रूप से विषय बनाया गया है। हिंदी में विवेकी राय के आंचलिक उपन्यास 'सोनामाटी' तथा 'समर शेष है' में उत्तर भारत के पूर्वांचल क्षेत्र के गांवों की समस्याओं को चित्रित किया गया है जबकि पंजाबी में गुरदयाल सिंह के उपन्यासों में भारतीय जन-जीवन की सच्ची तस्वीर है। आज भी असली भारत गाँवों में ही बसता है। गुरुदयाल सिंह ने मढ़ी का दीवा, घर और रास्ता, अध चाँदनी रात तथा परसा आदि उपन्यासों में पंजाब के मालवा क्षेत्र के ग्रामीम जीवन को विषय बनाकर असली भारत की बहुरंगी संस्कृति को प्रस्तुत किया है। हिंदी उपन्यास 'सोनामाटी' तथा 'समर शेष है' में भी उपन्यासकार ने गुरुदयाल सिंह के पंजाबी उपन्यासों की तरह ग्रामीण-जीवन से जुड़े भारत की बहुरंगी संस्कृति एवं ग्रामीण मानस में पैदा हुए मूल्य-संकटों का वर्णन किया है। विवेकी राय के हिंदी उपन्यासों में भी गुरदयाल सिंह के पंजाबी

उपन्यासों की तरह हरे भरे खेत-खलिहानों, कुओं, तालाबों, ऊबड़-खाबड़ गलियों, कच्चे मकानो, वहाँ की लहलहाती फसलों, पक्के चौबारों और जीते जागते घर-आंगनों के यथार्थपरक चित्र अंकित किये गये हैं। विवेकी राय के उपन्यासों तथा गुरदयाल सिंह के उपन्यासों के पात्रो के चुनाव में थोड़ी भिन्नता इस बात की है कि गुरदयाल सिंह के उपन्यासों के पात्र जैसे-विशना, परसा, मुख्तार कौर आदि सभी अनपढ़ गँवार हैं, लेकिन विवेकी राय के उपन्यासों के पात्र शिक्षित एवं बौद्धिक वर्ग के हैं जैसे – रामरूप, जयन्ती, विक्रम मास्टर आदि। गुरदयाल सिंह के लेखन की विशेषता यह है कि उन्होंने आम लोगों का पक्ष लिया है जिन्हें सदियों से 'नीच' कहकर तिरस्कृत किया जाता रहा। यही किसी साहित्यकार की मानवता की कसौटी है। गुरुदयाल सिंह मालवे के ग्रामीण परिवेश के सांस्कृतिक विवेक से जुड़े उपन्यासकार हैं। उनके सभी उपन्यासों में इस क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रभावों को प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। दलित जातियों पर हो रहे अत्याचारों के खिलाफ, पाखंड, झूठ, भ्रष्टाचार, परम्पराओं के नकार में उनकी लेखनी की आवाज बुलंद है। हिंदी उपन्यास 'सोनामाटी' में उपन्यासकार ने 'करइल' क्षेत्र के किसानों की समस्याओं, उस क्षेत्र की लहलहाती फसलों, वहां की संस्कृति एवं ग्रामीण मानस में पैदा हुए मूल्य संकट का यथार्थपरक चित्रण किया है जो पूंजीवादी तथा लोकतांत्रिक समाज के घिनौने समीकरण तथा सामन्तवादी और पूँजीवादी मूल्य-संस्कृति की देन है। इनका चित्रण उपन्यासकार ने गहरी संवेदना के साथ किया है। 'समर शेष है' उपन्यास का कथ्य भी किसान जीवन से ही जुड़ा हुआ है, दीर्घ काल तक शोषण और अन्याय सहते रहने वाले ये छोटे किसान अब अपने अधिकारों की माँग के लिए तन कर खड़े हो रहे है। मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवी तथा क्रांतिकारियों के नेतृत्व में इन किसानों ने भूमिपतियों तथा शोषण और अन्याय के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया है। इस विक्षोभकारी विजन के केन्द्र में वहाँ की कच्ची सड़क है जो एक मायने में उपन्यास की नायिका भी है। किसी सड़क को नायिका बनाना हिंदी उपन्यास की निजता है क्योंकि

अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासो में किसी सड़क को या किसी प्रतीक को नायक या नायिका नहीं बनाया गया है। हिंदी उपन्यासों में नायक की अनुपस्थिति हिंदी के लिए कोई नयी बात नहीं है, लेकिन प्रतीक के रूप में पूरे देश को उपन्यास का नायक बनाने का प्रयास अवश्य नया है जो हिदी उपन्यास की निजता एवं मुख्य विशेषता है। उदाहरण के तौर पर देखा जाय तो विवेकी राय के उपन्यास 'मंगल भवन' का पात्र एक स्थान पर कहता है कि "मेरा देश ही इस उपन्यास में मेरा नायक है और वह मूल्य हीनताओं की भयानक आग में जल रहा है। भ्रष्टाचार, महॅंगाई, अराजकता, हिंसा, नशा स्मगलिंग, आतंक के अकांड तांडव से त्राहि-त्राहि कर रहा है - - - - मेरा नायक धैर्य पूर्वक इन सबसे लड़ रहा है।"[1] इसे और स्पष्ट करता हुआ वह कहता है कि "मँहगाई और भ्रष्टाचार को पूर्व से खुली छूट मिल गयी है, क्योंकि सरकार के स्तम्भ कहे जाने वाले लोग कुर्सियों की लड़ाई में उलझे हैं – - - - - राजनीति का अपराधीकरण हो गया है। गुंडे, बदमाश और अपराधी ऊँची-ऊँची कुर्सियों पर शान से सिर ऊँचाकर विराजमान है। भेदभाव, जातिवाद, वर्गवाद, स्वार्थवाद और सम्प्रदायवाद को अब चुपके-चुपके नहीं, खुलेआम बढ़ावा दे रहे हैं। देश के कर्णधार - - - - जनता बट गयी, नेता बट गये, शासक बट गये - - - तो कितने-कितने टुकड़े वाले 'मंगल-भवन' का अस्तित्व कहाँ रह गया?"[2] इन शब्दों में देश की इस सचाई के प्रति लेखक की संवेदना व्यक्त हुई है, जिसे अनेक मार्मिक प्रसंगों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

विवेकी राय के उपन्यासों में परस्पर विरोधी भावों का सामंजस्य चकित करने वाला है। 'सोनामाटी' में रामरूप की बेटी के विवाह का प्रसंग, 'समर शेष है' में जयन्ती के सुराज को बिना विवाह

---

1. डॉ० गोपाल राय – हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०-318

2. डॉ० गोपाल राय – हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०-318-319

हुए, पति रूप में वरण करने का प्रसंग और 'मंगल भवन' मे विक्रम मास्टर के परिवार से सम्बद्ध प्रसंग इसके उदाहरण हैं।

शिल्प और भाषा प्रयोग की दृष्टि से भी विवेकी राय के उपन्यास उल्लेखनीय हैं। उनके शिल्प विषयक प्रयोगो में नवीनता तो नहीं है, पर परिचित कथा-प्रविधियों का उन्होंने बहुत ही सार्थक और सर्जनात्मक प्रयोग किया है। चलती हुई कथा के प्रवाह को रोककर बीच में दूसरा प्रसंग ला देना और बाद में प्रथम प्रसंग को किसी पात्र की स्मृति या किसी और माध्यम से प्रस्तुत करने की युक्ति बड़ी प्रीतिकर है। शैली की यह विशिष्टता हिंदी उपन्यास की निजता एवं उसकी मौलिकता को रेखांकित करती है। कथा-प्रस्तुति के लिए अवलोकन बिन्दुओं का चुनाव और स्थानान्तरण में विवेकी राय ने हद दर्जे की सावधानी और मौलिकता दिखाई है। अवलोकन बिन्दुओं का स्थानान्तरण इतनी कुशलता के साथ होता है कि पाठक कब कथाकार की चेतना से निकलकर किसी पात्र की चेतना में प्रवेश कर जाता है, इसका उसे पता ही नहीं चलता। इस प्रकार का चेतना भाव अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में कहीं दिखाई नहीं देता।

गिरिराज किशोर का उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' एक हद तक किसान जीवन के महाकाव्य की परंपरा का भी उपन्यास लगता है, भूमिहीन दरिद्र भारतीय किसानों को ही पशुवत जहाजों में भरकर फिजी, सुरीनाम, डच और ब्रिटिश गायना, मारीशस तथा दक्षिण अफ्रीका ले जाया गया था; वहाँ जानवरों से भी बदतर जीवन व्यतीत करने के लिए अभिशप्त वो, जब तक सांस चलती थी अपने खून पसीना से सींचकर धरती से, गोरों के लिए सोना उपजाते थे, और मर जाने पर उनकी हड्डियाँ वहाँ की धरती को और भी जरखेज बनाने में काम आती थीं। इसका एक हृदय विदारक चित्र उपन्यास के प्रारम्भ में ही है। गिरमिट (एग्रीमेंट) के तहत भारतीय मजदूरों को ले जा रहे कुछ जहाज टूटकर

बिखर गये थे, उनमें से एक फ्यूजिलियर नामक जहाज डरबन के निकट रेटन की खाड़ी में समुद्र के बीहड़ उन्माद का शिकार हो गया था। उस पर सवार गिरमिटियों की एक बड़ी संख्या रास्ते में ही महामारी का शिकार हो जल-समाधि पा चुकी थी। बचे हुए लोग, रेटन की खाड़ी में जहाज के छिन्न-भिन्न हो जाने पर, भीषण आग की लपलपाती लपटों सरीखी उद्दाम लहरो के बीच अनार के दानों जैसे बिखर गये थे। तटवर्ती गिरमिटियों की दारुण गुहार पर जब एक डच गोरा राहत के लिए हांफते मजदूरों के साथ दुर्घटना स्थल पर पहुँचा तो उसकी मानवीयता की कलई कथाकार खोल कर रख देता है।

डच साहब नींद में खलल डालने वाले गिरमिटियों पर आग बबूला बीबी को मनाते हुए कहता है– "... वे कितने मेहनती है, जीते हुए फसलों के लिए काम करते हैं, अब मर कर भी उन्हें कई गुना बढ़ा देंगे" इस तरह के तेजाबी वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि किसानों का शोषण अपने देश भारत में ही नहीं बल्कि भारत के बाहर अन्य देशों में भी होता है। अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में भी किसान जीवन मुखर हुआ है। किसान जीवन से जुड़ी समस्याओं को चित्रित करने वालों में उड़िया के फकीर मोहन सेनापति, बँगला के बंकिम, विभूति भूषण तथा तारा शंकर बंदोपाध्याय, मलयालम के तकाषि और बशीर एवं मराठी के आनंद यादव आदि हैं। मराठी उपन्यासकार आनंद यादव ने एक गरीब किसान तथा उसके बेटे की जिजीविषा, उसकी व्यथा-कथा तथा महाराष्ट्र के एक छोटे से 'कागल' नामक गाँव के बहाने गरीब किसान के जीवन का स्पंदन, ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण तथा गरीब किसान के पुत्र के खो गये बचपन की करुण गाथा, बाल विवाह तथा अनमेल विवाह की विसंगतियों को गहरी संवेदना के साथ चित्रित किया गया है। बाल विवाह से जुड़े प्रसंग– "रिश्ता पक्का हो गया। लकड़ी अभी पूरे एक वर्ष की भी नहीं हुई थी। इस विवाह में लड़की-लड़के - - - को अपना विवाह एक खेल-तमाशे की तरह लगा। - - - - एक वर्ष की तारा के गले में बाँधा गया

मंगल-सूत्र एवं कण्ठुला बड़ा विचित्र लग रहा था।"[1] तारा जब जब छः-सात साल की हुई तब वह ससुराल में रहने लगी लेकिन उसकी सास तथा छोटी-बड़ी ननदे सभी लोग अपने छोटे-बड़े काम उसी से करवाने लगे जिससे बीच-बीच में वह अपनी मॉ के घर भाग जाती थी। उसके भाग जाने का एक और कारण अनमेल विवाह था। जिसको इस उद्धरण में देखा जा सकता है। "उसकी और उसके पति की उम्र में आठ-नौ वर्ष का अन्तर था। जब वह समझने लगी, तभी से उसकी नज़रों में वह प्रौढ़ पुरुष जैसा लगता था।"[2] इस तरह से आज भी भारतीय समाज में अनमेल विवाह की प्रथा प्रचलित है खासकर लड़के-लड़की की उम्र में आठ-नौ वर्ष का अंतर अक्सर देखने को मिलता है, जो आज भारतीय समाज की नियति सी बन गयी है। तारा द्वारा अपने पति के लिए खेत पर कलेऊ ले जाना तथा देर होने पर पति द्वारा प्रताड़ित तथा उसकी पिटाई किया जाना पति की तानाशाही प्रवृत्ति को उजागर करता है। इस तरह की तानाशाही की प्रवृत्ति भारतीय समाज के ग्रामीण अंचलों में पति-पत्नी के बीच अधिक मात्रा में दिखाई देती है। इसका प्रमुख कारण नारी में आत्म-निर्भरता की कमी है। इस प्रवृत्ति का चित्रण हिंदी उपन्यासों में भी दिखाई देता है। पुरुष-प्रधान समाज में नारी का शोषण का चित्रण हिंदी उपन्यासों का मुख्य कथ्य बन गया है।

स्वाधीन युग में ही नारी का पुरुष के साथ सहयोग, संवाद-विवाद, साहचर्य-संघर्ष बढ़ने लगा था। नारी ने निजी अस्मिता का अनुभव किया, नौकरी पेशा के कारण नारी आर्थिक दृष्टि से कुछ आंशिक रूप में आत्मनिर्भर हुई, घर के बाहर का वातावरण उसे अधिक मुक्त करने लगा पुराने सांचे में छटपटाने वाली आत्मा अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हुई। सभी भारतीय भाषाओं में स्वाधीनता के बाद

---

1. आनंद यादव – जूझ, पृ० सं०-11-12, प्र० संस्करण-1999

2. आनंद यादव – जूझ, पृ० सं० -13, प्र० सं०-1999

नारी की मुक्ति का प्रश्न साहित्य के केन्द्र में आया। विवाह पूर्व प्रणय के रोमानी वातावरण की कल्पना युवा मानस को उत्तेजित करने लगी। पुरुषों ने नारी के शोषण और मुक्ति की विविध समस्याओं को लेकर लिखा तथा नारियों ने अपनी भोगी हुई यातनाओं, पराधीनता की छटपटाहट को, मुक्ति की उत्तेजित कामनाओं को, अपनी स्वभावगत तरलता के साथ व्यक्त किया, जिसमें कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, राजीसेठ, शिवानी, प्रभाखेतान, चंद्रकान्ता, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल तथा पुरुष लेखक शिवप्रसाद सिंह, अमृतलाल नागर, भीष्म साहनी आदि लेखकों ने अपने-अपने उपन्यासों में विविध कोणों से नारी-मुक्ति की समस्या को औपन्यासिक रूप दिया है। अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में भी उपन्यासकारों नारी मुक्ति की आवाज उठायी है जिसमें आशापूर्णा देवी, गुरदयाल सिंह, आदि लेखक हैं। इन लेखकों ने नारी मुक्ति के साथ-साथ नारी शोषण एवं समर्पण के चित्र भी अंकित किये हैं। नारी-मुक्ति के प्रश्न को लेकर दो महत्वपूर्ण बातें उभरकर सामने आती हैं। पहला यह कि मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति के फलस्वरूप जो एकल परिवार व्यवस्था निर्मित हुई है वह अबाधित रहे या नहीं, और रहे तो किन शर्तों पर और स्त्री-पुरुष संबंधों में संवादपूर्ण स्थितियां कैसी हो, उनमें देहशुद्धि की अवधारणा का क्या रूप हो? चंद्रकान्ता का 'अपने अपने कोणार्क' इस परिप्रेक्ष्य में एक सशक्त लघु हिंदी उपन्यास है। 'अपने-अपने कोणार्क' की नारी पात्र 'कुनी' एक शिक्षित तथा आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर रहते हुए भी पारिवारिक मर्यादा को ध्यान में रखते हुए परम्परागत रूढ़ मूल्यों, तिलक-दहेज की बाधाओं तथा पारिवारिक जिम्मेदारियों के चलते लगभग आधी जिन्दगी एकाकीपन तथा अनिर्णय की मानसिकता में गुज़ार देती हैं। कुनी के अकेलेपन की अनुभूति इस प्रसंग से की जा सकती है –''तुम मेरे अकेलेपन का क्या इलाज़ करोगे? मेरी देह की जरूरत पूरी करने से ही मेरे सभी अभाव खत्म होंगे? नहीं ! मेरी देह को छूने से पहले मेरे भीतर के हिमखंड को छूना जरूरी था और मैं जानती

थी कि देह के लोभी देह के पार कुछ भी देखने की आँखें नहीं रखते।"[1] 'कुनी' के इस अकेलेपन के विचार से स्त्री के प्रति विकृत मानसिकता रखने वाले समकालीन भारतीय युवकों के ऊपर करारा प्रहार किया गया है। इस प्रकार 'कुनी' जैसे व्यक्तित्व वाली स्त्री पात्र का सृजन करके उसमें स्वस्थ मानसिकता को प्रत्यारोपित करने की कला हिंदी उपन्यास की निजता को रूपायित करती है, जो, एक अर्थ में, हिंदी उपन्यास की विशेषता भी कही जायेगी। अनूदित उपन्यासों में 'कुनी' जैसे स्त्री पात्र कहीं भी दिखाई नहीं देती है। बँगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन' की स्त्री पात्र 'कावेरी' तमाम सामाजिक प्रश्नों से जूझती हुई एक स्थान पर कहती है कि "दुःख-सुख में और अपमान एवं अभिमान में अपने प्राणों का विसर्जन कर देना हैरानी की बात नहीं है यही तो स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। लेकिन माँ ने तो उस स्वाभाविक पथ या शाश्वत धर्म की तरफ अपना कदम नहीं बढ़ाया था। इसीलिए माँ की हर तरफ निन्दा हो रही थी"[2] अर्थात् पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को अपनी निन्दा से बचने के लिए समाज के सामने अपने को समर्पण करना होगा। नारी समर्पण की समस्या हिंदी तथा अनूदित उपन्यासों में समान रूप से उठायी गयी है। नारी समर्पण का अति विकृत रूप चिवकुल पुरुषोत्तम का तेलुगु उपन्यास 'क्या है पाप' की नायिका बनजा और नारायण के इस प्रसंग में दृष्टव्य है – "एक रात दस बजे के आसपास बनजा ने नारायण के कमरे में आकर दरवाजा बन्द कर लिया। नारायण भयं से सिकुड़ गया। खिड़कियाँ भी बन्द कर दीजिए। कोई भय नहीं। आपके घर में सभी सो रहे हैं। कहकर तेजी से - - - - सामने खड़ी हो गयी। स्त्रीत्व का यह रूप नारायण ने पहले की नहीं देखा था। इसलिए केवल एक बार पलक गिर पाया था कि उसका सुषुप्त पुरुषत्व जाग उठा। - -

---

1. चंद्रकांता – अपने-अपने कोणार्क', पृ०सं०-71, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि० दिल्ली, 1995)

2. आशापूर्णा देवी– लीला चिरन्तन, पृ० सं०–138, भा०ज्ञा०प्र० नई दिल्ली, प्र०संस्करण-1998

- - इस आवेश के पीछे पुरुषत्व तो था ही, साथ ही, दुराचार-दोषारोपणजनित की भावना भी थी।"[1]

हिंदी उपन्यास 'कठ गुलाब' एक प्रौढ़ चिन्तनपरक उपन्यास है जो नारी के लगभग सर्वांग शोषण को सशक्त वाणी देता हुआ नारी की प्राकृतिक सामर्थ्य का प्रभावपूर्ण रेखांकन करता है। नारी की प्रसव क्षमता, उसका वात्सल्य, उसकी कार्य शक्ति, उसकी समाज-संपृक्ति, उसकी करुणा का इतना प्रभावी चित्र अन्यत्र नहीं मिलता। आज किसी भी समाज में पुरुष की जाति एक है और स्त्री की भी– तभी इस उपन्यास की स्त्री पात्र स्मिता भारत की ही तरह अमेरिका की भी जमीन पर छली जाती है। मारियान पति के द्वारा सृजन के क्षेत्र के बाहर धकिया दी जाती है। सामाजिक, शारीरिक दोनों स्तर पर नमिता बच्चों वाली होने पर भी बच्चों के किनारा करने पर अकेलेपन से घबराकर रोती है। मारियान भी बच्चे के लिए तड़पती है। स्मिता का गर्भपात का आघात उसके हृदय को झकझोर देता है। इस उपन्यास का पुरुष पात्र बिपिन भी अपनी पूर्णता के लिए बच्चे का इच्छुक है। यहां तक कि बच्चे की चाहत की दौड़ में इस उपन्यास की नौकरानी नर्मदा एक स्थान पर कहती है कि "बात है बीबी बाँझ औरतों को रोना जरूर चाहिए ना रोवे तो अगले जनम में कोख वीरान हो जावे है।" नर्मदा के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय समाज में स्त्री की पूर्णता के लिए सन्तान का जन्म अनिवार्य है। इस प्रकार स्त्री सृजन का पर्याय है, सृष्टि के हर सृजन में उसकी साझेदारी है। आज सृजन का प्रमुख स्रोत स्नेह संवेदना भीतर से सूखता जा रहा है, धरातल की संवेदना रसातल में पहुँच रही है। इस उपन्यास का अविवाहित पुरुष पात्र बिपिन का अपने से आधी उम्र की नीरजा के से बच्चे को जन्म देने का समझौता बिल्कुल मशीनी औद्योगिक उत्पादन जैसा लगता है। भारतीय समाज में

---

1. चिवुकुल पुरुषोत्तम – क्या है पाप, पृ० सं० – 168, 169 (अनु.-सूर्यनाथ उपाध्याय) प्रकाशक – हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्रथम संस्करण– 1987)

इस तरह का समझौता पश्चिम से आयातित जान पड़ता है जिसे भारतीय समाज मान्यता नहीं देता।

शिल्प और भाषा की दृष्टि से 'कठगुलाब' मृदुला गर्ग के प्रथम दशक के उपन्यासों की तुलना में उच्चतम सोपान पर अवस्थित है, यद्यपि उसका अंत आश्वस्तकारी नहीं है। विभिन्न पात्रों के अवलोकन-बिन्दुओं से कथा प्रस्तुत करने का प्रयोग बिल्कुल नया तो नहीं है, पर उसे अधिक प्रभावी बनाने में लेखिका को किंचित सफलत मिली है। मृदुला गर्ग के पास अनुभव और संवेदना को व्यक्त करने वाली समर्थ भाषा है, इस उपन्यास से प्रमाणित होता है। उदाहरण स्वरूप लेखिका उच्च वर्गीय पुरुषों को संवेदन शून्य मानती है। "उच्च जाति के भारतीय पुरुष से ज्यादा संवेदनशून्य इंसान पूरी दुनिया में ढूंढ़े नहीं मिलेगा। उस खाये पीये मर्द को शारीरिक पीड़ा के अलावा कभी कोई दुःख नहीं उठाना पड़ता। न उसे बच्चे से गहरा लगाव होता है न बीबी से। मां-बाप की देखभाल के लिए वह एक अदद बीबी ले ही आता है। सामाजिक अपमान या आर्थिक अभाव उसे झेलना नहीं पड़ता केवल उसका खुद का शरीर किस्मत से वह तगड़ा सेहतमंद हुआ तो कोई गम पास नहीं फटकता। उसकी तमाम उर्जा - - - - प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ने में लग जाती है। वह गम पालता है तो दूसरों की तरक्की का, उत्सव मनाता है तो उनकी हार का फिर संवेदनशक्ति हो तो कैसे?[1] लेकिन इस उपन्यास का पात्र बिपिन इस संवेदनशून्यता को केवल पुरुषों का सोच नहीं मानता। उसका मानना है कि पुरुषों की भाग दौड़ में शामिल होकर ये शिक्षित सम्पन्न सफल स्त्रियाँ भी संज्ञा शून्य हो चुकी है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'इदन्नमम' बुन्देलखण्डी जीवन के प्रमाणिक और अंतरंग अनुभव, पहाड़ी अंचल की धरती और बीहड़ पहाड़ के जीवन के सामाजिक यथार्थ तथा गहरी मानवीय संवेदना से सम्पन्न है। मैत्रेयी पुष्पा ने मंदाकिनी, कुसुमा, सुगनी आदि शक्ति सम्पन्न नारियों के दर्शन कराया है

---

1. अक्षरा – प्रधान संपादक, गोविन्द मिश्र, पृ० सं० 95-96, अंक-अक्टूबर-दिसम्बर-2000

और कही भी अस्वाभाविकता नहीं दिखती है। नारी शोषण के सारे रूप इसमें प्रकट होते हैं। मंदाकिनी एक ऐसी जुझारू नारी है जो केवल परिवार या समाज द्वारा बनाये गये बन्धनों को ही नहीं तोड़ती बल्कि शोषण के विरुद्ध तनकर खड़ी भी होती है। 'चाक' की नायिका पति के प्रति समर्पित तो है परन्तु जीवन में एक शिक्षक के प्रवेश के बाद उसके मन में पति और प्रेम को लेकर द्वन्द्व छिड़ जाता है। गाँव की यह महिला अपनी अंतरात्मा की आवाज पर पति द्वारा पिटे और घायल, शिक्षक के प्रति समर्पण करती है। वैसे इस प्रकार का द्वंद्व हिंदी साहित्य में नया नहीं है लेकिन परिवेश और नारी के संदर्भ में यह निश्चय ही कुछ अलग है। यह भी अस्वाभाविक नहीं लगता कि उसके ससुर की सहानुभूति बहू के प्रति है। इतना ही नहीं गांव का समाज भी उसे हेय दृष्टि से नहीं देखता बल्कि पंचायत चुनाव में जिता देता है। स्थितियों और वातावरण का चित्रण इतनी स्वाभाविकता से किया गया है कि कहीं भी परिदृश्य में अस्वाभाविकता नहीं आती। इन उपन्यासों की तुलना में 'अल्मा कबूतरी' एक अधिक नयी और सशक्त रचना है भारतीय समाज इतनी विविधताओं से भरा पड़ा है कि सजग और संवेदनशील उपन्यासकार के लिए कथ्य के अभाव में चमत्कारपूर्ण शिल्प और अचेतन-अवचेतन की भूल भुलैया में भटकने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैत्रेयी पुष्पा ने इस तथ्य को अपने उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में सिद्ध कर दिया है। भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियां हैं जो आजादी का अर्थ नहीं जानती। उनके पास न घर है न ठिकाना। औपनिवेशिक शासक ने इन्हें जरायमपेशा जाति घोषित कर सभ्य समाज की नजरों में उपेक्षा और घृणा का पात्र, तथा पुलिस के अत्याचार का सबसे नरम चारा भी बना दिया है। यद्यपि देश के आजाद होने के बाद इन जनजातियों को स्वराज तो मिला लेकिन सुराज नहीं मिला। इन जातियों को सम्मानजनक साधन न उपलब्ध होने के कारण इनके पुरुष अपराधकर्म और स्त्रियां देह-व्यापार के लिए विवश होती हैं। इसी यथार्थ को मैत्रेयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' में गहरी संवेदना और जबरदस्त सर्जनात्मक कुरेद के साथ प्रस्तुत

किया है। अल्मा कबूतरी, सभ्य कहे जाने वाले एक असभ्य और बर्बर समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। अल्मा की कहानी इस स्थिति के प्रति नारी के विद्रोह की कहानी है। वह एक ऐसी नारी है जो राणा को बच्चे से मर्द बनाती है, कुमारी माँ बनने का साहस दिखाती है, आततायियों को साहस के साथ झेलती है, पशुओं से भी बदतर जिन्दगी जीने को बाध्य होती है, पर हार नहीं मानती। बल्कि वह विधान सभा के चुनाव में प्रत्याशी बनकर एक दलित वर्ग की स्त्री होते हुए भी जीत हासिल करती है तथा सत्ता पर काबिज होती है। नारी विद्रोह का स्वर अन्य भारतीय अनूदित उपन्यासों के पात्रों में जैसे डोगरी उपन्यास 'अंधी सुरंग' में रानी में तथा पंजाबी उपन्यास 'परसा' में मुख्तार कौर में, तथा बॅगला उपन्यास 'लीला चिरन्तन की नारी कावेरी में, आत्मविश्वास से भरी पूरी होने के बावजूद, वह विद्रोह नहीं दिखाई देता है जो मैत्रेयी पुष्पा के हिंदी उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में दलित समाज के नारी का विद्रोह है। सनातन काल से दलित जातियाँ दबाई जाती रही हैं, उन पर तरह तरह के अत्याचार किये जाते रहे हैं– वह भी सभ्य कहे जाने वाले लोगों के द्वारा। एक तो 'दलित' उस पर से 'नारी' – दोनों के एक साथ कथानायिका रूप में उपस्थित होने के कारण स्थिति की विद्रूपता तथा पात्र-कल्पना की प्रखरता स्वयंसिद्ध है। चिन्गारी की ढेर पर बैठी नारी-पात्र अपने अनूठे व्यक्तित्व में अद्वितीय है।

भोगा हुआ यथार्थ, अनुभूति की ईमानदारी और अनुभवों की प्रामाणिकता नयी कहानी के दौर में प्रमुख मुहावरे थे, जिसे डॉ० नामवर सिंह रचनाकार की निजता कहते है। उसी समय के लेखक निर्मल वर्मा और कृष्णा सोबती के नवीनतम उपन्यास 'अंतिम अरण्य' और 'समय सरगम' की केन्द्रीय संवेदना मृत्युबोध है। एक ऐसे ही अहिंदी भाषी क्षेत्र के तेलुगु उपन्यास 'क्या है पाप' की भी केन्द्रीय संवेदना मृत्युबोध ही है। हिंदी उपन्यास 'समय सरगम' की संवेदना ढलते उम्र के बूढ़ों की कारुणिक जीवन से जुड़ी हुई है तथा तमिल उपन्यास क्या है पाप की संवेदना एक गरीब ब्राह्मण परिवार के जीवन

से जुड़ी हुई व्यथा-कथा है, जो गरीबी के कारण एक के बाद एक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हिंदी उपन्यास 'समय सरगम' में बूढ़े पात्रों का संसार है, तो यह अकारण नहीं। अरण्य या आरण्यक शब्द वानप्रस्थ के ही संकेत है। 'अंतिम अरण्य' में मृत्यु को लेकर कातर चिन्ताएँ है, लेकिन 'समय सरगम' में मृत्यु की आहट तो है, पर आतंक नहीं। अंतिम परिणति के रूप में उसका स्वीकार भी है। तेलुगु उपन्यास 'क्या है पाप' में भी मृत्यु की आहट है लेकिन किसी प्रकार की चिन्ता या किसी प्रकार का आतंक नहीं है। हिंदी उपन्यास 'समय सरगम' तथा अंतिम अरण्य मे रचनाकार के जीवन दर्शन की कमोवेश अभिव्यक्ति हुई है। 'अंतिम अरण्य' उपन्यास में इस जीवन दर्शन को अन्ना के प्रसंग में द्रष्टव्य है – ''मुझे कभी-कभी डर लगता है क्रिश्चियन होने से? अगर उन्होंने मुझे कब्र में दफना दिया और मेरे भीतर जान बची हो? मैं चाहती हूँ कि मुझे जमीन में गाड़ने से पहले थोड़ा सा जलाया जाए, ताकि अगर जीवित हूँ तो थोड़ी-सी जलन लगते ही उठ खड़ी हूँ .... एक बार कब्र के भीतर गई, तो कोई मेरी आवाज भी नहीं सुन सकेगा .... कैसी पागल थी?''[1]

तेलुगु उपन्यास 'क्या है पाप' में रचनाकार का जीवन दर्शन नहीं है। समय सरगम में उपन्यासकार का विश्वास मानव की अमरता में है। व्यक्ति जी-जीकर मरता है और मर-मरकर जीताहै। अनन्त में विलीन होने तक पल-पल जीने की उत्कंठा और उत्साह का भाव ही इस उपन्यास की संवेदना है। 'समय सरगम' उपन्यास के दो सयाने पात्र अरण्या और ईशान एक ही फ्लैट के दो ब्लाकों में अकेलेपन की जिन्दगी जी रहे हैं। अरण्या अविवाहित तथा ईशान विधुर है। इनकी रुचि भारतीय दर्शन, आत्मा-परमात्मा और जीव-जगत के चिन्तन में है। परस्पर विरोधी विचार के होते हुए भी अरण्या और ईशान में मैत्री भाव है। अरण्या सत्तर के आसपास की होती हुई भी स्वावलम्बी,

---

1. निर्मल वर्मा – अंतिम अरण्य, आवरण सामग्री से

स्वाभिमानी, सक्रिय और चुस्त-दुरुस्त है। कृष्णा सोबती का विचार गलत नहीं लगता कि व्यक्ति मन से जवान या बूढ़ा होता है। ईशान और अरण्या विरोधी विचार रखते हैं, पर इनमें समानता यह है कि आसन्न मृत्यु के प्रति वे भयभीत नहीं है। एक दूसरे की निजता में हस्तक्षेप न करते हुए साहचर्य-सरगम गाते हैं, सुनते हैं। ये सरगम निम्न उद्धरण में दृष्टव्य है – ''कैसेट बजता रहा .... मर्म के रहस्यों को ध्वनित करती। सयानी आत्माओं को अपनी मार्मिक गूँज से दुलराती .... समय के ऐसे अन्तराल को एक दूजे को स्पन्दित करते इस लय और ताल को पकड़ लेना कितना दूभर कितना मुश्किल। असमय ही यह अनबूझी सरगम।''[1] वे आसन्न मृत्यु से भयभीत नहीं है, तभी तो इनमें परस्पर प्रेम दृष्टिगोचर होता है। बिडम्बना यह है कि अधिसंख्य भारतीय परिवार में यह अधिकार या स्वतंत्रता सयानों को नहीं प्राप्त है। संतान साथ हो तो वे एकदम आक्रामक हो जाते हैं। मानवीय सवाल यह है कि दो सयाने अपने समय के एकाकीपन में सरगम क्यों न छेड़े? जीवन की संध्या को रोते-कलपते ही क्यों बिताए? सरल सुख में क्यों नहीं? समय सरगम प्रकारान्तर से युवा पीढ़ी की संवेदन शून्यता का दस्तावेज भी है। पर समय की इस संवेदनहीनता के बीच जीवन अपने रास्ते स्वयं खोज लेता है। खोज ही नहीं लेता, उसे संगीत की तरलता और स्निग्धता तथा लय में भी बाँध सकता है। युवाओं की अवमानना झेलते हुए सयानों को खुद से उदासीन होना जरूरी नहीं है। उनके भीतर आत्मनिष्ठा व सजगता हो तो जीवन का नया उपक्रम संभव है। हम हैं तो समाज है। हमारी चेतना में संचित हैं हमारा काल आयाम। हम हैं क्योंकि धरती है, हवा है, धूप है, जल है और है यह आकाश। इसीलिए हम जीवित हैं। फिर जिजीविषा या सहज सुखानुभूति की कामना क्यों मरे– क्यों मृत्यु का वरण करें।

हिंदी उपन्यास 'अंतिम अरण्य' में सारा जीवन जी लेने के बाद कुछ अनुत्तरित प्रश्न उठाये गये हैं– वे प्रश्न जिनसे मनुष्य जीने की आपाधापी में निरन्तर बचता रहा है। लेकिन यदि गहराई से सोचें

1. कृष्णा सोबती – समय सरगम, पृ० सं० -138

तो उनके उत्तर खोजे बिना जीवन की सार्थक अर्थवत्ता भी संदिग्ध और प्रश्नचिह्नित रह जाती है। ये 'दार्शनिक जुमले' नहीं है, बल्कि जीवन को गहराई से सोचने वाले व्यक्ति की अंतर्यात्रा का अंतिम पडाव है। मृत्यु, भय, एकान्त, जन्म, स्व आदि विभिन्न विषयों पर उपन्यास में चिन्तन के सूत्र पिरोये हुए है। पशु स्तर पर सारा जीवन भोगने वाले व्यक्ति में इस तरह की चिंताये कभी व्यक्त ही नहीं होती। इसीलिए जीवन के गहरे विमर्श से यह उपन्यास गुम्फित दिखाई देता है। ''मनुष्य की असली यात्रा मृत्यु से पहले शुरू होती है, जब वह जीने की पक्की सड़क छोड़कर किसी अनजानी पगडंडी की ओर मुड़ जाता है जो जीने और मृत्यु से अलग किसी और दिशा की ओर मुड़ जाता है, जो जीने और मृत्यु से अलग किसी और दिशा की ओर जाती है।''[1]

हम जीवन जीते हुए न तो जीवन का अर्थ समझ पाते हैं न मृत्यु का ही। दोनों किसी कालातीत संदर्भ की ओर हमें लिये चलते हैं इसकी समझ ही लोगों में उत्पन्न नहीं हो पाती। इसी गूढ़ समझ का उपाख्यान यह उपन्यास है, जो नचिकेता की परम्परा का कथा कल्प है। देह को लेकर दिया गया दार्शनिक चिन्तन दृष्टव्य है – ''देह अपने में तकलीफ है – उठता हूँ तो वह भी उठने लगती है, चलता हूँ तो मेरे साथ-साथ चलती है, कभी-कभी सोचता हूँ कि उसकी आँख बचाकर कहीं छिप जाऊँ, फिर देखू कैसे मेरा सुराग पाती हैं ...कोई अपनी देह की आँखों में धूल झोंककर उससे बच सकता है? कैसे पीछा छुड़ा सकते हैं उससे जो जन्म से आपके साथ जुड़ी है तभी तो हम पैदा होते ही रोते हैं।''[2] नीट्ज्शे का यह कहना कि मनुष्य का पैदा होना ही उसकी सबसे बड़ी त्रासदी है। निर्मल वर्मा में यह अंतर्ध्वनित होता है। बौद्ध संस्कार की तरह मानव शरीर से मुक्ति की चाह इसमें

---

1. निर्मल वर्मा – अंतिम अरण्य, पृ० सं० –217

2. निर्मल वर्मा – अंतिम अरण्य, पृ० सं० –168

स्पष्ट मुखरित हुई है।

तेलुगु उपन्यास 'क्या है पाप में उपन्यासकार ने एक गरीब ब्राह्मण परिवार लक्ष्मी देवी, पुत्र नारायण, पुत्री कमला एवं नवजात शिशु के जीवन से जुड़ी कारुणिक व्यथा का चित्र अंकित किया है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने मृत्यु का बोध इस ढंग से कराया है कि मृत्यु को लेकर कमला और नारायण में न तो किसी प्रकार की चिन्ता है और न ही किसी प्रकार का आतंक। बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि इनमें मृत्यु को आत्मसात करने की नियति बन गयी है। दारुण मृत्यु की उपस्थिति में गरीबी की निश्चल विवशता की धार है : "बबुआ का अन्न प्राशन होगा ..... पानी में सनी रोटी के टुकड़े का छोटा-छोटा कौर बनाकर एक कौर बबुआ के मुँह में डाल दिया। कौर मुँह में जाते ही बबुआ सकपका गया और उसे जोर से खॉसी आयी, शरीर ऐंठने लगा। घबराकर - - - - फिर आँखें उलट गयीं और फिर निश्चल हो गया - - - बबुआ अम्मा की तरह हो गया। कमला रोते-रोते बोली। कमला ! बबुआ भी भगवान के पास चला गया रे।"[1] जीवन ही जिनका क्षण-क्षण मृत्यु के नजदीक आता रहा हो उनका सारा समयबोध मृत्युबोध में पर्यवसित हो जाता है : – "भैया वह देखो ..... बबुआ बुला रहे हैं। मैं जा रही हूँ, भैया ! जाते ही अम्मा और भगवान् से कहूँगी कि तुम्हें भी ले आये। आओगे न भइया? .... अच्छा आऊँगा, अवश्य आऊँगा, तुम जरूर कह देना। देर मत करना – दृढ़तापूर्वक कहना। नारायण ने कहा। उसके बाद कमला चल बसी।"[2]

अत्यन्त दुःखी जीवन से छुटकारा देने के कारण मृत्यु उनके लिये वरेण्य हो जाती है। भगवान

---

1. क्या है पाप – चिवुकुल पुरुषोत्तम (अनुवादक-सूर्यनाथ उपाध्याय पृ0सं0 -42, सं0-1987, साहित्य सम्मेलन प्रयाग

2. क्या है पाप – चिवुकुल पुरुषोत्तम (अनुवादक – सूर्य नाथ उपाध्याय)– पृ0सं0-46

की शरण में जाकर वे मुक्ति पाना चाहते हैं। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी उपन्यास 'अंतिम अरण्य' और समय सरगम में मृत्युबोध की संवेदना को जीवन के यथार्थ अनुभव से गुजरने के बाद उसको नये धरातल पर लाकर पुनर्वीक्षित किया गया है। जबकि तेलुगु उपन्यास 'क्या है पाप' में न तो यह संवेदना है और न अध्यात्म प्रवेश की गहराई। आध्यात्मिकता और गहरी जिज्ञासाओं का आना हिंदी उपन्यास की निजता दृष्टिगोचित होती है जिसका दर्शन अन्य भारतीय उपन्यासों में कही नहीं होता। हिंदी के इन उपन्यासों की यह विशेषता है कि ये एक अनूठी शैली, औपन्यासिक संरचना और ऐंद्रिय पकड़ का कुछ स्वाद ही नहीं देते बल्कि इनमें आध्यात्मिक व्याकुलता भी है जो हमार जाने-अनजाने सारी ऊपरी उथल-पुथल के बावजूद कहीं हमारे अंदर घटित होता रहता है।

हिंदी उपन्यास का एक बड़ा हिस्सा उन अंचलों की जिन्दगी से सम्बद्ध है जहाँ के लोग परिनिष्ठित हिंदी नहीं बोलते। उनकी अपनी-अपनी कमोवेश समृद्ध भाषाएँ हैं, जिनमें साहित्य की भी रचना होती रहती है। इन अंचलों के यथार्थ का अंकन करते समय वहाँ की भाषा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि उन अंचलों को उनकी भाषा से अलग किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि आंचलिक जैसे उपन्यासों की भाषा टकसाली या शुद्ध मानक हिंदी न होकर अंचल विशेष की भाषा से रंजित होती है। जब विवेकी राय, रामदरश मिश्र, शिव प्रसाद सिंह आदि उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल क्षेत्र को अपने उपन्यास का विषय बनाते हैं तो वे टकसाली हिंदी को भोजपुरी शब्दों, मुहावरों और लहजों से युक्त कर उसे एक नया अन्दाज प्रदान करते हैं; जब श्रीलाल शुक्ल, अमृतलाल नागर, चित्रामुद्‌गल अवध क्षेत्र की जिन्दगी से रू-ब-रू होते हैं तो वे हिंदी को अवधी के लहजों, कहावतों से संवलित करते हैं। उदाहरण के तौर पर चित्रा मुद्गल के उपन्यास आवाँ में ठेठ अवधी के शब्द जैसे– अदहन, सानी-पानी, चियानी, भुरकुस, पेटपोंछन, ठेना आदि। कुछ कहावतें भी द्रष्टव्य हैं–

"मानों तो माथे ई टनक, न मानों तो चन्दन का टीका"[1] "न दुधार गाय पराये खूँटे बँधे, न बिटिया-बेटार पराई देहरी शोभे"[2] "माँ मरे, मौसी जिए"[3] "पानी उतरी औलाद सौ मूस-खाई बिल्ली सी छिनरी होती"[4] आदि कहावतें अवध क्षेत्र से संबंधित है। जब मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यासों में ब्रज और बुन्देलखण्ड क्षेत्र की कहानी कहती है तो वे अपनी हिंदी को ब्रजभाषा और बुन्देलखंडी से सम्पन्न करती है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में कुँवर जी द्वारा किये गये सवाल में ब्रजभाषा की एक झलक दिखाई देती है जो दृष्टव्य है –

"कहाँ गढायौ चंदना माई बाप ने जी,

ए जी कोई कहा तौ रे दियौ भइया बीर

कहा गढ़ायौ सकल सुनार ने जी ऽऽऽ।"[5]

उपन्यासकार के 'अल्मा कबूतरी' में बुन्देलखण्डी जीवन से जुड़ी भाषा की एक झलक निम्न संदर्भ से महसूस की जा सकती है – "इन सवाल-जवाबों के पीछे कबूतरा-बस्ती में रहती वह बुढ़िया थी, जो उसे देखते ही अपनी बेटी को टेरती-रे ..... भूरी ! राघव माते का च्छोरा आया री। गुड़ की डिंगरी ले आ।.... गुड़ लेने के लोभ में ठिठकता मंसा साँस खींचकर भागता। बूढ़ी कबूतरी की हँसी उसे

---

1. चित्रा मुद्गल – आवाँ, पृ० सं० –227, सामयिक प्रकाशन,नई दिल्ली प्र०सं०-1999
2. चित्रा मुद्गल – आवाँ पृ० सं० -300 सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली प्र०सं०-1999
3. चित्रा मुद्गल-आवाँ, पृ० सं०-300, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली प्र०सं०-1999
4. चित्रा मुद्गल – आवाँ, पृ० सं०-430, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, प्र०सं०-1999
5. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ० सं०-13

पिछियाती आती-री .... भाग छूटा च्छोरा।"[1]

मैत्रेयी पुष्पा की औपन्यासिक भाषा की एक उल्लेखनीय विशेषता ग्रामीण और निम्नवर्गीय स्त्रियों की भाषा को जस का तस प्रस्तुत कर देना भी है, जब शैलेश मटियानी और मनोहर श्याम जोशी, अपने उपन्यासों में पहाड़ी जीवन का अंकन करते हैं तो पहाड़ी भाषा को छोड़ नहीं पाते, भीष्म साहनी,कृष्णा सोबती को पंजाबी जीवन का चित्रण करते समय पंजाबी भाषा की अनिवार्यता का बोध होता है। प्रभा खेतान राजस्थान की जिन्दगी से जुड़ी घटनाओं का चित्रण जब अपने उपन्यास मे करती है तो वहां की भाषा का मोह नहीं छूटता। जैसे-पीली आंधी उपन्यास में : "म्हालीराय जी तो स्याणे समझदार आदमी थे, सेठ जी के विश्वासपात्र थे।"[2] चन्द्रकान्ता को कश्मीर के जीवन का चित्रण करते समय हिन्दी में कश्मीरी के मिश्रण की आवश्यकता का अनुभव होता है। चन्द्रकांता ने अपने उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' में कश्मीरी भाषा का प्रयोग किया है जिसको दादी द्वारा कुनी को भागवत की पंक्तियां समझाने के प्रसंग में देखा जा सकता है – "सुन कुनी, सुन क्या कहा है। समझ, इसका अर्थ बूझ। तू अब सयानी हो गयी है झिओ! – काष्ठ पितुले स्त्री रुपे। थोइव यतिंक-समीपे। यतिए तार रूप चाहिं। चरण अग्र जेबे छुइं। मन मंथइं ताहांकार। येनु मन्मथ सुखधर .....।"[3] (स्त्री का रूप काठ का पुतला है, यति भी उसे देखकर चंचल हो उठते हैं। मन्मथ का ऐसा ही प्रभाव है)। शैलेश मटियानी, मनोहर श्याम जोशी जब अपने-अपने उपन्यासों में मुम्बई की जिन्दगी का चित्रण करते हैं

---

1. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा, पृ०सं०-11

2. प्रभा खेतान-पीली अंधी, पृ०सं०-105, लोकभारती प्रकाशन इला०, सं० – 1996

3. चंद्रकांता-अपने-अपने कोणार्क, पृ०सं०-14, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पटना प्र०सं०-1995

तो बम्बइयाँ हिंदी की अपरिहार्यता को अस्वीकार नहीं कर पाते। इसी प्रकार शानी, राही मासूम रजा, अब्दुल बिस्मिल्लाह आदि कथाकार मुसलमानों की घरेलू जिन्दगी का चित्रण करते समय उनके घरों मे बोली जाने वाली एक खास अन्दाज से लबरेज भाषा का उपयोग करना अपरिहार्य मानते हैं। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो हिंदी क्षेत्र की शायद ही कोई भाषा हो जो तत्तत्व क्षेत्र के जीवन पर आधारित उपन्यासों में मानक हिन्दी के साथ मिश्रित न हुई हो। यह हिंदी उपन्यास की ऐसी निजी विशेषता है, जो किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा के उपन्यासों में नहीं दिखाई पड़ती।

❑❑❑

षष्टम् अध्याय

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दलित् के शोषण की समस्या, स्त्री-दलन एवं उसकी भोगवादी नियति की समस्या, समाज में व्याप्त राजनीतिक भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, दहेज, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा, अशिक्षित, बेरोजगार, गरीबी, बेकारी, वैश्वीकरण की समस्या, युवा मन की करना कातरता, अनुसूचित जनजातियों के झुग्गी-झोपड़ी की समस्या और रूढ़िवादी मान्यताओं की गतानुगतिकता तथा एक वर्ग विशेष के विस्थापितों की समस्या आदि सभी किसी न किसी रूप में भारत में लिखित भारतीय भाषाओं के उपन्यासों के अखिल भारतीय एवं राष्ट्रीय रूप को परिपुष्ट करते हैं।

मारवाड़ियों की धन प्रवणता का देशव्यापी रूप 'पीली ऑंधी में है : ''पन्ना लाल : बाबू स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेंगे? इसके उत्तर में माधों ने बस इतना कहा – पन्नालाल भावुक मत बनो। हमें राजनीति से क्या लेना देना? यहाँ प्रवास में रुपया कमाना है, कोई जुलूस में शामिल तो होना नहीं है।''[1] अर्थात् माधो का राजनीति से दूर रहकर रुपये कमाने की चाह, धन की लालसा भारतीय मानस के राष्ट्रीय रूप को परिपुष्ट करता है। राजस्थान से विस्थापित होकर कलकत्ता पहुँचने के बाद ''पन्नालाल सुराणा को लगा यहाँ बँगाल में कैसी गजब की हरियाली है लेकिन फिर भी देस की बात अलग है।... उसने सोचा, पत्नी .... दीवाली तक एक संतान हो जानी चाहिए। पहले लड़का हो जाता तो अच्छा था। नहीं तो एक लड़के के चलते लड़कियों का तांता लग जायेगा।''[2] अर्थात् पन्नालाल सुराणा द्वारा पुत्र चाह की सोच आज भारत के संपूर्ण स्त्री-पुरुष की सोच को रूपायित करता है।

---

1. प्रभा खेतान – पीली आँधी, पृ०सं०-109, प्र०सं०-1996, लोकभारती - प्रकाशन, इलाहाबाद
2. प्रभा खेतान – पीली आँधी, पृ०सं०-110, प्र०सं०-1996 लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

इस तरह पीली आँधी एक सामाजिक वर्ग विशेष से जुड़ी कथा अवश्य है, पर यह विस्थापितों की भी अखिल भारतीय समस्या को अंकित करता है, जो सुरक्षा के किसी भी अवसर को विस्थापित होने के बाद गँवाना नहीं चाहते। इसके ठीक विपरीत, उड़िया उपन्यास 'उत्तरमार्ग' में उपन्यासकार ने स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों की गौरव गाथा को अभी तक इतिहास के पन्नों में अंकित न करने की समस्या को विषय क्षेत्र बनाया है। इस उपन्यास का एक पात्र दिगन्त अपना परिचय देते हुए कहता है – ''किसने कहा कि मैं जमींदार घराने का हूँ? मैं तो घर-बार, गाँव-गली, माँ-बाप, सब भूल गया। बस, भारत मेरा देश है। संग्राम मेरा पेशा, देश-सेवा मेरा धर्म।''[1] इस प्रकार दिगन्त के इस कथन में राष्ट्र सेवा के प्रति समर्पण का भाव स्पष्टतः दिखाई देता है जो उसके स्वतंत्रता सेनानी होने की चिन्गारियों से भरा हुआ है। असमीया उपन्यास 'पाखी घोड़ा' में गुवाहाटी के एक मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार को केन्द्र में रखकर आजादी के उत्सव का चित्रण किया गया है। युद्ध ने नयी पीढ़ी के जीवन और सांस्कृतिक कार्यकलापों को पूरी तरह ध्वस्त करके रख दिया था। नैतिक मूल्यों का पतन, शिक्षा में विघटन, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में आये ठहराव, बढ़ती कीमतें, क्रांतिकारियों की दुविधा, लालची ठेकेदार वर्ग का उदय और कालेधन का बोलबाला – यही स्वतंत्रता के बाद का भारतीय जीवन है। एलायड आर्मी की कार्रवाइयों और उनकी बर्बरताओं ने युवकों के हृदय को बुरी तरह आहत कर दिया था। वर्तमान का वह दौर जब असम के लोगों को सबसे बड़े राजनैतिक संकट का सामना करना पड़ा। इस राजनैतिक संकट को इस संदर्भ में स्पष्टतः देखा जा सकता है – ''इस समय दिल्ली के लाल किले में बन्दी बनाये गये आजाद हिन्द फौज के जवानों के देशद्रोह के अपराध को दोषी मानकर उनके दण्ड का न्याय-विचार ब्रिटिश सरकार कर रही है। उधर विश्वयुद्ध से लौटकर आई हुई भारतीय सेना वाहिनी के कुछ अंगों में विद्रोह की चिनगारी भी सुलगने लगी है। ऐसे

---

1. प्रतिभा राय – उत्तर मार्ग, पृ०सं०-157, द्विसं०-1997, भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली

समय मे अगर वह आज बाहर रहा होता तो 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की आग को फिर से प्रचण्ड वेग से धधकाने की कोशिश कर रहा होता। पाकिस्तान की मांग को लेकर उठायी गयी राजनीति और समझौतावादी बातचीत के जरिए देश के विभाजन का जो खतरा मँडरा रहा है। उसे बन्द कर पाने का बस एक मात्र वही उपाय है। सर्वथा एक मात्र उपाय।"[1] अर्थात् भारत का विभाजन और आजादी की उस घड़ी में मुस्लिम लीग द्वारा तात्कालिक असम को पूर्वी पाकिस्तान का हिस्सा बनाये जाने की चाल देश की सुरक्षा की दृष्टि से खतरा था, जो भारत जैसे देश के लिए एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या थी। उसका खामियाजा आज तक भारत उठा रहा है।

स्त्री के साथ दुराचार आज हिंदी तथा अहिदी भाषी क्षेत्रों के उपन्यासों का मुख्य विषय है जो देश में व्याप्त दुराचार की प्रवृत्ति का पर्दाफाश करता है। हिंदी उपन्यास 'हमजाद' वैश्विक स्तर पर बढ़ते बाजारवाद की मनोवृत्ति की उपज है। बाजारवाद की इस प्रवृत्ति में आकंठ निमग्न एक छोटे समाज का अंकन किया गया है जो देह-सुख के लिए सारे नैतिक मूल्यों को नकारता हुआ कमीनी से कमीनी हरकतें करता है। इस उपन्यास का पात्र एक स्थान पर कहता है – 'इस अफसाना में यहाँ से वहाँ तक गन्दगी ही गन्दगी है।'' यह बात बिल्कुल सच है कि आज पूरा भारतीय युवा समाज विकृत मानसिकता के दौर से गुजर रहा है। 'आवाँ' उपन्यास मुम्बई की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास है जहाँ मजदूर यूनियन के प्रमुख अन्ना साहब, किशोरी युवती नमिता के साथ अनपेक्षित विकृत कामुक आचरण करते हैं, एक दूसरी घटना में यही नमिता धनाढ्य आभूषण-व्यापारी संजय कनोई के संपर्क में आती है जहाँ विवाहित, पर निःसंतान संजय के प्रेम में फँसकर गर्भवती होती है। इसी उपन्यास के एक दूसरे प्रसंग में ''दिन रात शराब में धुत रहने वाला मटका-किंग मदन खत्री अपनी बड़ी बेटी

---

1. वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य - पाखी घोड़ा, पृ० सं० -190-191

के साथ दुराचार करने से भी नहीं हिचकता। इतना ही नहीं अरुन्धती राय के उपन्यास 'द गॉड आफ स्माल थिंग्स' में जो एक वेन्डर, बालक रहेल से सेक्स की जो गन्दी हरकतें करवाता है वो सभी आवाँ उपन्यास में मौसा जी एवं मजदूर यूनियन के प्रमुख अन्ना साहब किशोरी युवती नमिता से करवाते हैं। गौमती निःसन्तान उद्योगपति छेड़ा साहब के पुत्र की माँ बनती है। छेडा साहब की पत्नी उस पुत्र को अपनी कोख से जन्मा बताती है। कुँआरी बिमला वेन के अन्ना साहब से तो संबंध हैं ही, सेवा-टहल में लगी कुँआरी मजदूरो के साथ भी समलिंगी सम्बन्ध हैं। प्रसिद्ध फोटोग्राफर सिद्धार्थ मेहता पोर्टफोलियो बनवाने की एवज में अपनी माडलों से दैहिक संबंध स्थापित करता है। नमिता और सुनंदा अविवाहित अवस्था में गर्भधारण करती है, यहाँ तक कि स्वयं नमिता के पिता, विवाहित किशोरी बाई के नाजायज औलाद हैं। डोगरी उपन्यास 'अंधी सुरंग' में भी बेलगाम यौनाचार उजागर हुआ है। इस उपन्यास का पात्र परवेज और चरण वेश्यागिरी के लिए उस अँधेरी गली में प्रवेश करते हैं जहाँ वेश्याएं देह का व्यापार करती हैं। चरण और परवेज के देह-सुख को प्राप्त करने की मनोवृत्ति को इस प्रसंग में आसानी से देखा जा सकता है – "अभ उसकी आँखों के सामने ही एक चेहरा था उस औरत का जो अभी-अभी परवेज के साथ उस अंधेरी कोठरी में चली गयी है और अपने टूटते बिखरते वजूद को इस समय सँभालना-सहेजना चरण के लिए कठिन था। परवेज बाहर निकला। जा चला जा अन्दर, उसने चरण से कहा - - - - अंदर पांव रखते ही आवाज कानों में पड़ी। दरवाजा बन्द कर दो - - - - लेटी हुई उस औरत ने उसे खींच लिया। उसे कुछ सोचने का अवसर नहीं दिया और धीरे-धीरे वह किसी गहरी अंधेरी गुफा में उतरता चला गया।"[1] अतः इस उद्धरण में वेश्यागिरी की गंध महसूस की जा सकती है। हिंदी उपन्यास 'खंजन-नयन' में उपन्यासकार ने तत्कालीन वेश्या समाज की संस्कृति तथा उनके द्वारा पथभ्रष्ट होने का चित्र अंकित किया है। वेश्याओं के पास से गुजरते ही

---

1. वेद राही – अंधी सुरंग, पृ० सं० - (12-13), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली-1998

लग जाता है कि हम वेश्याहाट में आ गये हैं – "बोल पैरो की थाप, घुँघुरू, पखावज, आनन्द आ गया है। लगा कि वेश्याओं की हाट में आ गये हैं। कोई कह रही थी अरी बुग्गो अब तोरा पाशुपताचार्य नहीं आवता है का। कैसे आवे विचारा, अपनी जूठी मदिरा पिलाय - - - पिलाय के भरी हाट में नचवाय दिया उसे। आधी शिखा काट के गिरौरखी ली है कि दस दिनारै लाओ सुवरन की, छुड़ाय लै जाओ। - - - अरे इन गलियन में बड़े-बड़े सन्यासी, वेदज्ञ, बुद्ध, सरावगी, कादी न जाने कौन-कौन आय के मुख काला नहीं करवाता है।"[1] नारी मुक्ति का चाहे जितना, चाहे जिस प्रकार का आन्दोलन छेड़ा गया हो, सब बयानबाजी के अलावा कुछ नहीं देता।

एक अन्य हिंदी उपन्यास 'दो मूर्दों के लिए गुलदस्ता' में समलैंगिकता की चरम परिणति दिखाई देती है जिसको इस उद्धरण में स्पष्टतः देखा जा सकता है। – "- - - नील गिरफ्त में छटपटा रहा था - - - - अब उसकी चीख निकली। पर उसने जैसे कालू के लिए उत्तेजक का काम किया। नील ने भरसक टाँगे चलाई। पर उसके धड़ पर शिकंजा मजबूत था - - - उबड़ खाबड़ फर्श का ठंडापन नील ने अपने पेट पर महसूस किया। पलटने की कोशिश बार-बार बेकार जा रही थी। उसकी बाहें जड़ से सख्त हाथों की जकड़ में थी - - - फिर उसे - - - दबाव महसूस हुआ।"[2] इसी तरह एक अन्य प्रसंग में वेश्यागिरी की गंध महसूस की जा सकती है – "भोला के फ्लैट में छठवां दिन था - - - इन दिनों रोजाना रात को शहनाज की एजेंसी की बुकिंग चल रही थी, पर शाम को नहाकर कपड़े बदलना संभव नहीं था। वायोलेट विला के दिनों मे वह दो मिलनों के बीच में स्नान का ध्यान रखता था, ताकि एक स्त्री दूसरी की देह से आक्रांत न हो। वैसे भी शहनाज के क्लाइंट विशिष्ट थे।

---

1. अमृतलाल नागर – खंजन नयन, पृ० सं० 169, प्र0सं0 – 1981
2. सुरेन्द्र वर्मा – दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, पृ० सं०- 233, प्र०सं०-11998 राधा कृष्ण प्रकाशन दिल्ली

एक दो हजार - - - मामूली बात हो गयी थी।"[1]

इस देश की अस्सी प्रतिशत महिलाएं अशिक्षित हैं, बाल विवाह, अनमेल विवाह, बाल विधवा परिवारो में सामंती अत्याचार, पर्दा प्रथा, दहेज, चारदीवारी तक सीमित रखने जैसे अंध संस्कार आज भी वैसे ही है, आज देश में दहेज की समस्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। हर वर्ग और हर जाति में चाहे गांव हो या शहर सभी जगहों पर दहेज के लिए समाज में कितनी ही बहुएं मौत के घाट उतार दी जाती हैं या ऊबकर स्वयं आत्महत्या कर ले रही हैं। इन्हीं समस्याओं को अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास 'अग्निगर्भा' में एक शिक्षित समाज के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आशापूर्णा देवी का बँगला उपन्यास 'न जाने कहाँ-कहाँ' में भी दहेज प्रथा की आवाज मुखर हुई है : – "- - - - - लड़की बढ़ती है केले के पेड़ की तरह - - - उन्हें फ्राक छोड़कर साड़ी पहनना पड़ता है। तब माँ पकड़कर ले जाती है, सिर से पाँव तक अपने को गिरवी रखकर उनका व्याह करती है, वे भी तो दहेज प्रथा के शिकार हैं।"[2] एक दूसरे प्रसंग में – "प्रवास जीवन अवाक् होकर बोले, नकद आठ हजार देकर तेरे साथ शादी करेंगे? तू कह क्या रहा है? इस प्रश्नवाण से देबू आहत हुआ। शायद अपमानित भी। बोला, देंगे क्यों नहीं, लोग तो और भी ज्यादा-ज्यादा पाते हैं। मेरे ताऊ को ही लड़के के शादी में आठ हजार मिले थे। - - - - प्रवास जीवन मानो किसी अनजानी दुनिया का किस्सा सुन रहे थे। दहेज देना-लेना यद्यपि अनसुनी बात नहीं थी। लेकिन देबू के जैसे घर में? अनपढ़ एक नौकर मात्र ही तो है। उसकी इतनी कीमत।"[3] "अब तो पढ़ा-लिखा लड़का हुआ तो पूछिए मत। बीस हजार

---

1. सुरेन्द्र वर्मा – दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, पृ०सं०-149, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली
2. आशापूर्णा देवी – न जाने कहाँ-कहाँ, पृ०सं0-31, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली प्र०सं०-1995, चौथा - 1998
3. आशापूर्णा देवी – न जाने कहाँ-कहाँ, पृ०सं०-57, भा० ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

की माँग करते हैं। उस पर भी साइकिल, ट्रांजिस्टर - - - उत्तेजित होकर प्रवास जीवन बीच में बोल पड़े, और न दे सके तो बहू को जलाकर मार डालेंगे। यही न?"[1]

उर्दू उपन्यास 'चाँदनी बेगम' में भी रिश्तों को पैसे से जोड़कर देखा गया है जिसमें निकाह के समय रकम भी मुकर्रर की जाती है। आज मुस्लिम समाज में भी दहेज लिया या दिया जाता है। जिसको चॉदनी बेगम उपन्यास के इस उद्धरण में आसानी से देखा जा सकता है। "मुंशी ने ऐनक उतारी, एक मिनट चुप रहे और बोले – - - - - अच्छा ब यह बात आपने खुद निकाली है तो पहले यह बतलाइए कि आपने निकाह के वक्त कितनी रकम मुकरर्र की – मुअज्ञल और मुवज्ञल? दुल्हन की तरफ से वकील कौन था? मौलाना कौन आए थे और गवाह कौन-कौन लोग थे?"[2] स्त्री का समाज में कोई सम्मानजनक अस्तित्व न होना ही दहेज प्रथा का कारक है। यह आम भारतीय समस्या है। इसमें क्षेत्र क्षेत्रांतर नहीं है, धर्म धर्म का भेद नहीं है, वर-वर्ग की बात नहीं है। यह पुरुष-प्रधान भारतीय समाज की एक समान मानसिकता का दिगंत व्यापी निदर्शन है जहां विवाह सहधर्मिता नहीं, क्रियमाणता है। जो जितना धन दे सकता है वह कन्या के लिए उतनी ही काम्य स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इसमें स्त्री के सौजन्य, शिक्षा-दीक्षा, संस्कार, कुलीनता आदि किसी के विचार की आवश्यकता नहीं। एकमात्र धन की तुला पर वह आज भी तौली जा सकती है। 'प्रगति' के सारे ढोंग के बावजूद वस्तुतः वह सौदेबाजी की वस्तु है।

भारत विभिन्न धर्मों, जातियों और संस्कृतियों का देश है यहाँ पर हिंदू और मुसलमान ऐतिहासिक

---

1. आशापूर्णा देवी – न जाने कहां-कहां, पृ० सं०-57, भा० ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

2. क़ुर्रतुलऐन हैदर – चाँदनी बेगम, पृ०सं०-60, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली प्र०सं०-1996, पेपरबैक-1999

कारणों से प्रारम्भ से ही प्रायः टकराव की स्थिति में रहे हैं। सत्ताधारियों और सत्ता के लोभियों ने अपने लाभ के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को टकराव की ही स्थिति में रखना बेहतर समझा। भारत को आजादी विभाजन की कीमत पर मिली और वह विभाजन मुसलमानों को अलग राष्ट्र मान कर हुआ। भारतीय संविधान 26 जनवरी सन् 1950 को लागू हुआ तथा भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र बना, लेकिन साम्प्रदायिकता आज भी देश में ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका अन्त होता हुआ दिखाई नहीं देता। आजादी के बाद का उपन्यास-साहित्य साम्प्रदायिकता की समस्या से जूझता रहा है। साम्प्रदायिक द्वेष के कारण होने वाले दंगों में विभूतिनारायण राय का हिंदी उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू' की केन्द्रीय समस्या हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता है। इस साम्प्रदायिकता ने इलाहाबाद शहर का खुल्दाबाद और बहादुर गंज तथा जी०टी० रोड के बीच के सभी मुहल्ले को अपनी चपेट में ले लिया। ये साम्प्रदायिकता तब फैली जब कुछ अज्ञात युवकों ने गाड़ीवान टोला के मंदिर की दीवाल पर बम पटक कर वापस गली में भाग गये। बम चूंकि मंदिर की दीवाल पर पटका गया था इसलिए वहाँ पर उपस्थित हिन्दुओं ने मान लिया कि बम फेंकने वाले मुसलमान रहे होंगे! इसलिए वहाँ से गुजरने वाले मुसलमानों पर उन्होंने एकदम हमला कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिकता फैल गयी। साम्प्रदायिकता का अंकन जीवंतरूप में उपस्थित है : "खून की धार देखकर अफसरों ने एक गली का रास्ता पकड़ा। गली पार्क की हद से शुरू होती थी। रास्ते पड़ी लाल खून और कीचड़ सनी लकीर देखने से ऐसा लगता था किसी जख्मी आदमी को लोग घसीट कर ले गये थे। पूरे मुहल्ले के दरवाजे बन्द थे।"[1]

गुजराती उपन्यास 'दीमक' का भी केन्द्रीय विषय हिन्दू-मुस्लिम की समस्यायें हैं पीढ़ियों से चला

---

1. विभूतिनारायण राय – शहर में कर्फ्यू, पृ०सं०–15, अनामिका प्रकाशन, बैरहना इला०

आ रहा हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक सौमनस्य अचानक वैमनस्य में बदलकर साम्प्रदायिकता का रूप धारण कर लेता है। ये पहेली बचू को समझ मे नहीं आयी। गाँव में रहते-रहते उसने कभी सोचा भी नहीं था कि शहर की साम्प्रदायिक गुण्डागर्दी तथा दंगा फसाद एक दिन उसके घर को बर्बाद करके छोड़ेगी। "और कस्बा भड-भड़ जलने लगा था। ठीक अर्धरात्रि के बाद साढ़े बारह के डंके के साथ इमली चौक की पचास दुकानों को एक साथ आग लगा दी गयी थी। दुकाने अकेले हिन्दुओं की ही नहीं थी, मुसलमानों की भी थीं। .... मुसलमान हिन्दुओं का दोष निकाल रहे थे। हिन्दू लोग मुसलमानों को दोषित सिद्ध कर रहे थे।'[1] एक दूसरे में केवल दोष ही दोष नज़र आने लगता है सांप्रदायिक ऑखों को। यह संक्रामक रोग की तरह फैलता है शहर से कस्बे में, और कस्बों से गाँव में। "कस्बे के दंगों के समाचार द्रुत गति से नये गाँव में पहुंच गये थे। गाँव सावधान हो गया था। युवा वर्ग में भारी उग्रता फैल चुकी थी।"[2] युवा उत्तेजित, वृद्ध अनाश्वस्त – सारी आबादी संत्रास से भर उठती है। गीतांजलि श्री का उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में हिन्दू साम्प्रदायिकता का चित्रण किया गया है। साम्प्रदायिकता का आघात विगत वर्षों में जिस तरह देश ने झेला शायद ही कोई ऐसा संवेदनशील व्यक्ति हो जिसने इस आघात से अपनी संज्ञा न खो दी हो। अपनी सारी प्रगतिशीलता को रौंदते हुए हम फिर से वहीं पहुँच गये जहाँ से चले थे। यह उपन्यास मनुष्य से जाति बन जाने तक की अधोगामी यात्रा का वृत्तान्त है। समाज का विशिष्ट बुद्धिजीवी वर्ग, जो अपने को कबीर की भाँति हिन्दू न मुसलमान की जमीन पर खड़ा मानता था, वह भी जाति के विरुद्ध लड़ते-लड़ते उसी जातिवाद से ग्रस्त हो जाता है। मनुष्य की सारी मनुष्यता तथा कथित 'धर्म' के नाम पर मर जाती है। वह अंधता की उस खाई में जा गिरता है जहां न विवेक है, न संवेदनशीलता। वह पिशाचवत्

1. डॉ० केशूभाई देसाई – दीमक, पृ०सं०-89, प्र०संस्करण – 1993

2. डॉ० केशूभाई देसाई – दीमक, पृ०सं०-90, प्र०संस्करण – 1993

उल्लास मानता है। दद्दू एक स्थान पर कहता है कि – "छूट मिल जाये कि किसे भी मारो, कुछ भी करो, लूटो, खाओ तो वह मारकाट नहीं जश्न करता है, उसे खून से सनने में मजा आता है, जिंदा जलाकर नाचने में उल्लास होता है, वह नये नये कारनामे करता है, उसे लाश की बू से नशा होता है, उसे लोगों की चीखों पर भगवान मिलता है।" दद्दू का तथ्य हमारा भोगा हुआ सत्य है। बीते हुए दिनों की पीड़ा को उपन्यास ताजा नहीं करता क्योंकि वह बासी ही कब हुआ। लेकिन उस पीड़ा को सहलाता है। अपनी भूमिका तलाशता है अपनी असहायता को प्रश्नांकित करता है साथ ही समाज के चुने हुए बुद्धिजीवियों के द्वारा तैयार किये गये प्रोडक्ट से समाज और देश के लिए व्यवहारिक सक्रियता की मांग करता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिकता का भाव किस प्रकार सीधे-सादे लोगों के मन में भरा जाता है, और अफवाहों के द्वारा अविश्वास, आतंक और भय पैदा कर उसे जुनून में बदल दिया जाता है। राजनीतिज्ञ इस अवसर का पूरा लाभ उठाकर चुनाव में वोट भुनाने का काम करते हैं। इन साम्प्रदायिक दंगों और धार्मिक उन्माद के चलते अल्पसंख्यक हिन्दू-मुस्लिम का पलायन, निरपराध व्यक्तियों की हत्या तथा अपराधी तत्वों द्वारा लूटपाट की घटनाएं होती हैं। कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता आज भारतीय समाज के सामने एक अखिल भारतीय समस्या के रूप में विराजमान हो गई है, जिसे समकालीन हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासकारों ने अपने-अपने उपन्यास का विषय बनाया है।

भारत गांवों का देश है। यहां की अस्सी प्रतिशत आबादी गांवों में निवास करती है। वहाँ भी दलित जीवन से जुड़ी समस्या, गरीबी, बेकारी तथा अशिक्षा आदि ने भयावह रूप धारण कर लिया है। समाज की इन्हीं दयनीयताओं को हिंदी तथा अहिंदी भाषी क्षेत्रों के उपन्यासों में समान रूप से चित्रित किया गया है। हिंदी उपन्यास 'शैलूष' में उपन्यासकार ने विन्ध्य क्षेत्र के नटों के कबीलाई जीवन को विषय बनाया है। उपन्यासकार ने इसमें स्वातंत्र्योत्तर इतिहास को सूक्ष्मता से छुआ है। इस

उपन्यास में विषमता, गरीबी, भावुक आशावाद और उच्च वर्ग के लोगो की तिकड़म और चालाकियों का बयान किया गया है। आज की देश में बहुत से गरीब हैं जिनको दो वख़्त की रोटी नसीब नहीं होती। इसी गरीबी की अभिव्यक्ति उपन्यासकार ने शैलूष मे की है : "जाब हटा दी जाती है तो बैल इतना गेहूं खा जाते हैं कि वे उसे पचा नहीं पाते और गोबर मे साबुत गेहूँ के दानें गिराने लगते हैं। इसे धोकर पेट पालने वाले हरिजन और बेसहारा लोगों से आज भी गाँव भरे हुए हैं।"[1] अर्थात् आज भी स्वतंत्र भारत के गांवों में यदा कदा ऐसी जातियां मिल ही जाती है, जो अपना पेट भरने के लिए ऐसी निकृष्ट विधि अपनाने को मजबूर है। असमीया उपन्यास 'मत्स्यगन्धा' में उपन्यासकार ने असम प्रांत में बसी जन-जातियों के सांस्कृतिक जीवन, उनमें व्याप्त गरीबी, उनके राग-विराग, तथा उनके सामाजिक संगर्षों का यतार्थपरक चित्र अंकित किया है। इन्हीं जनजातियों में से एक डोम जाति के घर गरीबी के कारण एक स्त्री को भूखों तड़पना पड़ा : – "धान मिलने की आशा छोड़कर मेमेरी अपनी बेटी को लेकर वापस घर की ओर चल पड़ी। कल रात से उसके घर का चूल्हा नहीं जला था। धान या चावल का इन्तजाम न होने से आज भी घर में किसी को खाना नहीं मिल पायेगा। मेमेरी का मन अचानक इस तरह टूट गया कि उसने किसी दूसरे के घर जाकर रो-धोकर चावल माँगने से तो अधमरा होकर पड़े रहना ही उचित समझा।"[2] अर्थात् देश की वर्ण-व्यवस्था में इस तरह की विसंगतियां भरी पड़ी हैं कि मेमेरी जैसी डोम जाति तथा अन्य निम्न वर्गों के लोगों को बीच-बीच में गरीबी के कारण फ़ाका करना पड़ता है क्या यह प्रजातंत्र है? या विकास?

राष्ट्रीय चरित्र इतना गिर गया है कि आज भारत के सामने मूल्य संकट की भयावह स्थिति

---

1. शिवप्रसाद सिंह – शैलूष, (नोट्स से)

2. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगन्धा, पृ०सं०-15, भा०ज्ञा०प्र०, नई दिल्ली

उपस्थित हो गई है। राष्ट्र के सामने मूल्य संकट की अंतहीन समस्या है। विवेकी राय के उपन्यास सोनामाटी में ग्रामीण जीवन में पैदा हुए समकालीन मूल्य संकट का चित्रण है पर वह किसी भावुकतापूर्ण दृष्टि का परिचायक नहीं है, बल्कि पूर्वांचल के बहुसंख्यक लोगों की जिन्दगी की नग्न सच्चाई है। वे अधिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए, गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले, निरक्षरता और अज्ञान के अन्धकार में डूबे, पुराने मूल्यों और विश्वासों से जकडे हुए ग्रामीण हैं। यह वह क्षेत्र है जहाँ भूमिपतियों, ठेकेदारों, इंजिनियरो, राजनीतिज्ञो द्वारा निरीह जनता किसान तथा मजदूरों का अमानवीय शोषण होता है। इतना ही नहीं गरीबों के नाम पर चलाये जाने वाली सरकारी योजनाएं इन्हीं भूमिपतियों, ठेकेदारों तथा साधन सम्पन्न पूँजीपतियों, राजनीतिक व्यवसायियों के तिजोरी भरने में चुक जाती हैं। शिक्षण संस्थाएं आज शिक्षा के नाम पर माखौल बन चुकी हैं। चुनाव के रूप में लोकतंत्र का विकृत रूप सामने आता है। यह सब वस्तुतः उस मूल्य-संकट का ही परिणाम है जो समस्त आधुनिक जीवन में छाया हुआ है। इसका एक कारण सामन्तवाद तथा पूंजीवाद का घिनौना समझौता है। इसका विकृत रूप गांवों में दिखाई पड़ता है जहां अवशिष्ट, सामंतवाद, लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था और पूँजीवादी मूल्य संस्कृति से जुड़कर सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अनपढ़ कमजोर ग्रामीणों का निरन्तर शोषण करती चली आ रही है। कन्नड़ उपन्यास 'मृत्युंजय' में भी किसान मजदूरों के शोषण की आवाज मुखर हुई है। देश के सामने यह एक राष्ट्रीय समस्या है। आज देश के गरीब किसानों से उसकी फसल के मिल्कियत के हिसाब से, सरकार कर लेती है, जिसे गरीब किसान देने के लिए मजबूर होता है। ऐसे ही किसानों का नेतृत्व इस उपन्यास का पात्र मेनेप्टा करता है, तथा गरीब किसानों, जुलाहों, व्यवसायियों, बढ़ई, आदि के अधिकारों की मांग को लेकर कर-अधिकारी को प्रार्थना-पत्र देने के लिए जाता है जिसे सामंतवादी शोषकों द्वारा दबा दिया जाता है। सुनवाई तो दूर, आवाज़ उठाने वाले या प्रतिवेदन करने वालों को कैद कर लिया जाता है : –

"यह आदमी-मेनेप्टा उसका नाम है। - - - - कर-वसूली के बाद तक इसे बन्दी बनाकर रखना पड़ेगा। कर-वसूली को कल तक टालना पड़ सकता है। हॉ, यह ठीक रहेगा। अगर कल तक इसको कैद रखा गया तो लोग अपने-आप खामोश हो जायेंगे। उसके बाद कर वसूली शुरू होगी। उसमें दो दिन लग जायेंगे। उसके बाद वह जा सकता है।"[1] सामंती चालाकी का यह घिनौना दस्तावेज है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन उपन्यासों में किसानों के शोषण, मजदूरों के शोषण तथा गरीबी को उपन्यासकारों ने अपने-अपने उपन्यास का विषय बनाया है। ये सारी समस्याएं आज भी भारतीय समाज में अच्छी तरह मौजूद हैं। इसका देशव्यापी रूप उपन्यासों मे उपलब्ध होता है।

राजनीति आज की सामाजिक चेतना का एक प्रमुख रूप है। मनुष्य के जीवन की सारी समस्याएं किसी-न-किसी रूप में राजनीति से जुड़ी हुई हैं। उसकी समस्याएं दिक्कतें, आकांक्षाएं, आशाएं आदि राजनीति के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। इसलिए राजनीतिक लेखन आज के पाठकों को सबसे अधिक आकर्षित करता है। अनुकूल होने पर प्रेरित करता है, प्रसन्न करता है, प्रतिकूल होने पर नाराज कर देता है, क्रुद्ध कर देता है। हिंदी उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' एक लोकप्रिय एवं चर्चित राजनीतिक उपन्यास है, राजनीतिक दलों की गतिविधियों का चित्रण के कारण नहीं, बल्कि समकालीन दौर की राजनीतिक चेतना के कई रूपों के प्रत्यक्षीकरण के कारण। यों तो उपन्यास में कहीं भी दलहीन राजनीति के सिद्धान्त की चर्चा नहीं है। सरकार की भी चर्चा कहीं नहीं है। इन सबके बावजूद यह पूरी तरह एक राजनीतिक उपन्यास है। उपन्यासकार ने पर्त दर पर्त जयंती प्रसाद सिंह जैसे-सर्वभोगी, पाखंडी राजनेता के चरित्र के बहाने इस देश के ढोंगी राजनेताओं के कर्मकाण्ड का कच्चा चिट्ठा पेश किया है। इस तरह वे यथार्थ को खोलकर सिर्फ वस्तुस्थिति ही प्रकट नहीं करते

---

1. निरंजन – मृत्युंजय, पृ० सं०-49

बल्कि व्यवस्था को लेकर एक नयी बहस की शुरूआत करते हैं। इस उपन्यास का पात्र जयंती प्रसाद सिंह ऐसा नेता है जो बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाते हुए एक बड़े राज्य का राज्यपाल की कुर्सी तो हासिल करता है और किसी कारण पद से हट जाने पर सन्त की भूमिका अपना लेता है। यहां पर जयंती प्रसाद सिंह उन नेताओं के प्रतीक हैं जो समकालीन राजनीति में पर्दे के पीछे से मंत्री पद पाने के लिए जोड़-तोड़ तथा खरीद-फरोख करते हैं पर ऊपर से निर्विकार बने रहने का नाटक करते है समकालीन राजनीति में चरित्रहीनता जैसे नरक का जितना तीखा साक्षात्कार जयन्ती प्रसाद सिंह के महामहिम चेहरे में दिखता है। यह अस्सी साल के बूढ़े आदमी के सपने का जिक्र है जो राजभवन के विशाल कक्ष में अकेले पलंग पर सोया सुबह-सुबह सहवास का स्वप्न देख रहा है। यद्यपि इन्द्रियां शिथिल और बेकार पड़ चुकी हैं, लेकिन सपने में वह उसकी क्षतिपूर्ति कर रहा है। ऐसे भद्र और कुलीन महामहिमों का आंतरिक चित्रण खींच कर श्रीलाल शुक्ल इशारा करते हैं कि हमारे व्यवस्थापालक आज कितने निरर्थक और निर्जीव साबित हो चुके हैं। जयंती प्रसाद सिंह के व्यक्तित्व के आयतन में जैसे यह निरर्थकता कूट-कूट कर भरी पड़ी है। राजभवन के अंतपुर से बाहर वह महामहिम है, साहब हैं, एक बड़े सूबे के रखवाले हैं। पर सारा समय वे केन्द्र को खुश करने के लिए तरकीबें ढूंढ़ते हैं। जब राहत मिलती है, तब रात में किसी सुन्दरी या जयश्री के हसीन सपने देखते हैं। अगर देह के काबिल हैं तो ठंडे ठिकानों पर सुन्दरियों से इश्कबाजी करते हैं। उन्हें जनता की चिन्ता के बजाय राजभवन के पर्दों के रंगों की चिन्ता होती है। ऐसे महामहिमों की करतूते निम्न उद्धरण में झलकती है – "सपने में वे यकीनन अस्सी साल के नहीं थे। उम्र के बारे में कुछ भी तय नहीं था। पर शायद वे पचीस-छब्बीस साल वाले कुंवर जयन्ती प्रसाद सिंह थे। आज के सपने में वह उनकी बाहों में नहीं थे, वे खुद उसकी बाहों में थे, पर तय नहीं था कि वह कौन थी। शायद सुन्दरी थी, वह जयश्री भी हो सकती थी। जो भी हो उसकी सुडौल चिकनी देह सिर से पांव तक

उसके अंग-अंग को पिघला रही थी। उसकी वर्तुल - -- उसकी छाती में विस्फोटक उष्मा के साथ गड़ रहे थे।' जागते में उनकी ढीली-ढाली, पस्त काया इस समय अचानक धधकते कोयलों में बदल गयी थी। एक अनूठी उत्तेजना उन्हें सुन्न करती जा रही थी।"[1] अगर आज राजनेताओं के बायोडेटा का अध्ययन करे तो उनकी जीवन रेखा शुरू से आखिर तक बलात्कार, खुशामद, झूठ, फरेब, ऐय्याशी, भ्रष्टाचार, लम्पटता में डूबी मिलेगी। जो इस उपन्यास के तथाकथित महामहिम जयंती प्रसाद सिंह के आरम्भिक और अंतिम जीवन के ब्यौरे इसके साक्ष्य हैं। उनमें ये सभी गुण अकूत मात्रा में विद्यमान हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में वे अपने मित्र की पत्नी जयश्री के न केवल आशिक हो जाते हैं, बल्कि उसका सिग्नल मिलते ही उससे सहवास की तरकीबें ढूंढ़ने लगते हैं।

जिसमें वे भलीभॉति सफल भी होते हैं। एक दूसरे प्रसंग में जयश्री की मृत्यु के बाद बिस्रामपुर में सर्वोदय आन्दोलन की कार्यकर्त्ता सुन्दरी की ओर मुखातिब होते हैं, सुन्दरी जो उनकी उम्र से तीस साल छोटी है, उसे पहली नजर में ही पा लेना चाहते हैं। यह वही सुन्दरी है जो उनके बेटे विवेक की दोस्त है जो भूदान-यज्ञ में अपना यौवन और प्रेम दोनों होम कर चुकी है। वह विवाह को अपने मिशन में बाधा समझती है। इस तथ्य को सभी जानते हैं सिर्फ जयंती प्रसाद सिंह ही नहीं जानना चाहते। क्योंकि वे प्रेम के पुजारी नहीं देह के भोक्ता है। वे शिक्षाकाल में जयश्री से आकर्षित प्रेमवश नहीं बल्कि उसकी बलिष्ठ और सुडौल आकार से आकर्षित हुए थे। जयंती प्रसाद सिंह के सहवास—बलात्कार एक ही सिक्के के दो पहलू थे। वे देह को भोगने के लिए कभी प्रेम करने का नाटक करते थे तो कभी विवाह करने का उत्सर्ग भी। पर उनके लिए प्रेम और विवाह सिर्फ देह को प्राप्त करने का सुगम रास्ता ही था जिसे वे भरी जवानी से लेकर बुढ़ापा तक नहीं छोड़ पाये।

---

1. बिस्रामपुर के संत का अंश – उत्तर प्रदेश से अंक-जनवरी-1999 पृ० सं०-18

राजनेताओं की इस देह लम्पटता का जितना यथार्थ वर्णन उपन्यासकार ने जयंती प्रसाद सिंह के बहाने प्रस्तुत किया है, वह अतिशयोक्ति नहीं बल्कि सच्चाई है। यह सच्चाई आज नयी पीढ़ी के राजनेताओं में और ठांठे मार रही है।

❑❑❑

उपसंहार

उपसंहार

उपन्यास आधुनिक साहित्य की सर्वप्रिय विधा है जिसमें आधुनिक विविधतापूर्ण जटिल मानव-जीवन को व्यक्तिगत तथा सामाजिक परिवेश में रूपायित किया जाता है। आधुनिक काल की जातीय समस्याओं या सांस्कृतिक चेतना की उपन्यास में पूर्णतया व्यक्त होने की गुंजाइश है। महाकाव्य जीवन के व्यापक रूप में चित्रित करने की शब्द अभिव्यक्ति है किन्तु बौद्धिकतापूर्ण आधुनिक जीवन का यथार्थ चित्र उसमें नहीं मिलता। महाकाव्य मानव-जीवन और मानवीय-संस्कृति को उसकी समस्त उदात्तता, सौन्दर्य और समृद्धि के साथ शब्दबद्ध करता था, जबकि उपन्यास समाज-व्यवस्था के अंतर्गत जीवन और संस्कृति को उसकी समस्त जटिलताओं, अन्तर्विरोधों और उलझी हुई समस्याओं के साथ प्रस्तुत करता है।

एक समय था जब भारतीय समाज में ही नहीं बल्कि पाश्चात्य समाज में भी उपन्यास हीन स्तर का द्योतक था। टॉमस मैकाले के शब्दों में उपन्यास-अध्येता एक दिल्लगीबाज़ नाम है जो अनभिज्ञता से आविष्कृत है। किन्तु आज स्थिति बदल गयी है। मानव मन की जटिलताओं तथा विविधताओं की सहज अभिव्यक्ति उपन्यास के माध्यम से संभव बन पाती है।

आधुनिक युग में उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान ग्रहण कर लिया है, इसलिए उपन्यास को साधारण जीवन का महाकाव्य कहा जा सकता है। वह ऐसी आधुनिक साहित्यिक कला है जो समकालीनता को कभी नहीं छोड़ती। उपन्यास इस मायने में भी आधुनिक है कि इसमें जिन मानवीय समस्याओं का चित्रण होता है वे प्राचीन काल में थी ही नहीं।

अब जीवन को सुर और असुर के द्विपक्षीय द्वन्द में नहीं परखा जा सकता। इसलिए संघर्ष की भूमिका समाज का बाहरी परिवेश उतना नहीं है जितनी मनुष्य का अंतर्जगत। सामाजिक परिवेश अपनी समस्त विडंबनाओं के साथ आज मनुष्यत्व की परीक्षा की कसौटी बनकर सामने उपस्थित हुआ है। अब 'सु' और 'कु' अंतर्द्वन्द में परिणत हैं। मानव-चेतना जिस अर्थ और कामप्रधान सभ्यता के दौर

से गुज़र रही है उसमें नायक का धीरोदात्त या धीरललित तक होना संभव नहीं दीखता—क्योंकि उपन्यास का नायक कोई देवोपम चरित्र नहीं, सामान्य मनुष्य है। अपनी समस्त कमज़ोरियों का पुंजीभूत स्वरूप लेकर वह आज भारत के जातीय जीवन का प्रतिनिधित्व कर रहा है। यह कोई वरेण्य स्थिति नहीं है, पर यथार्थ मूल्यविरहित ही है। यही यथार्थ उपन्यास का उपजीव्य है।

उसमें उभरी हुई मानसिक स्थिति का चित्रण कर आधुनिक व्यक्ति का खाका उपन्यासकार पाठकों के सामने रखता है इस पुष्टि से वह पूर्ण रूप से सृजनात्मक साहित्य के अंतर्गत आता है। सृजन के क्षण संघर्षों के बीच यदि उभर कर सामने आते है, तो उपन्यास की मूल्यवत्ता समझ में आती है। वरना, आधुनिक जीवन की घटिया कथायें भी उपन्यास में स्थान पा जाती हैं और संघर्ष के नाम पर मानवीय स्वाद ख़राब कर देती हैं। समाज ऐसी ईकाई का स्वरूप है जो प्राचीन तथा वर्तमान मान्यताओं के समन्वय से उत्पन्न होता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि व्यक्ति का समाज में कोई अस्तित्व है ही नहीं। विभिन्न व्यक्तियों का भी अपना-अपना पृथक् अस्तित्व तथा व्यक्तित्व होता है। इसलिए उपन्यासकार का कार्य होता है व्यक्ति के व्यक्तित्व पर आघात पहुँचाएं बिना समाज को गति प्रदान करना। इसके लिए उपन्यासकारों में कल्पना शक्ति की जरूरत है जिसके सहारे वह व्यक्ति और समाज, समाज और परिस्थिति के बीच समानुपातिक समन्वय ला सके। उपन्यास की रोचकता इस बात पर निर्भर है कि लेखक सम्भाव्य सत्य की अद्‌भुत स्थिति को आधुनिक जीवन के भीतर से मानवीय अनुभूति के कितने नजदीक ला सका है। इस अनुभूति को उपन्यासकार जितनी यथार्थता प्रदान करता है उतना ही वह विराट सृजन दे पाता है। सृजनात्मकता का तकाज़ा यही है कि हम मनुष्य की हैसियत से जियें—मूल्यविहीन सामान्य जन बनकर नहीं, समाजचेता, समाजस्रष्टा कुछ विशिष्ट चेतना-बिंदुओं को पकड़ सकें।

साधारणतः उपन्यासकार अपने स्वभाव के अनुकूल ही विषय चुनते हैं। अवश्य ही कभी-कभी मानवीय दुर्बलता अथवा अन्य कारणों से इसका व्यतिक्रम हो जाता है। फ्लावेयर का यह कथन इसी मान्यता की पुष्टि करता है। उपन्यासकार अपनी रचनाओं में चित्रित दुनिया से पाठकों को परिचित

कराता है जो हमारी सामान्य दुनिया से मिलती-जुलती जान पड़ने पर भी अपना एक निराला अस्तित्व रखती है उपन्यासकार अपनी कल्पना, सृजन-शक्ति तथा अंतर्दृष्टि से पाठकों को ऐसी सहज भूमि पर उतार लाते हैं कि वे तादात्म्य का अनुभव करने लगते है। किसी कहानी का मूल आधार होता है उसका प्रतिमान तथा उसकी अंतर्भूमि। इसी आधार के कारण ही कहानी में कहने लायक उपयुक्तता आती है और पाठकों को उससे आनंद प्राप्त होता है। उपन्यासकार अपनी स्थापना की शैली चाहे जैसी रखे और कहानी चाहे जिस ढंग से कहे लेकिन उसके मूल में मानवता का स्वर जरूर गूँजता रहे। इसीलिए पाठक उपन्यासकार के साथ बहुत सी बातों से सहमत न होते हुए भी एक आनंद का अनुभवव करता है जो स्वार्थ से रहित है,-साहित्य की भाषा में जिसे हम रस की उपलब्धि कहते हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं में उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जिसके साथ अतिसामान्य स्तर के पाठक भी रसास्वाद कर सकते है। पाठक के स्तर भेद से उपन्यास के मूल्यांकन में दृष्टि भेद आता है, वह दूसरी बात है। साधारण पाठक उपन्यास से मनोरंजन ही प्राप्त करते हैं। इतना जरूर है कि उपन्यासकार सदैव मनोरंजन को भी ध्यान में रखकर अपनी रचना नहीं करते। उपन्यास एक साहित्यिक विधा है और साहित्य-मर्मज्ञ ही उसका सफल मूल्यांकन कर सकता है। रंजकता उपन्यास शैली का मुख्य गुम है। भारतीय उपन्यास स्थितियों, पात्रों, शैली, भाषा आदि की विविधता के कारण पाठकों को बाँधे रहते हैं।

कोई भी साहित्यकार जब कभी भी लिखता है तो वह किसी न किसी विषय के प्रति आकर्षित या आसक्त होकर ही उस विषय से प्राप्त संवेदनशीलता के वशीभूत होकर ही लिखता है। इस संवेदनशीलता से बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के भारतीय उपन्यासों के उपन्यासकार परे नहीं है। मानव एक चिन्तनशील प्राणी है। उसके अन्दर सोचने-विचारने की अद्‌भुत क्षमता होती है। चिन्तनशीलता के विशेष गुण के कारण ही वह प्राणी जगत में सभी प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। वही उपन्यास श्रेष्ठ बन पाया है जिसमें इन दोनों का उचित समावेश हुआ हो।

□□□

सं - र्भ

विषय परिधि के भीतर विवेच्य हिंदी उपन्यास

1. गिरिराज किशोर – पहला गिरमिटिया, प्र0सं0-1999 ई0
   प्रकाशक-स्थान – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
   – तीसरी सत्ता, प्र0सं0-1982 ई0
   प्रकाशन स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली
   – ढाई घर, प्र0सं0-1994 ई40
   प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली
2. श्रीलाल शुक्ल – पहला पड़ाव, प्र0सं0-1987, ई0
   प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
   – बिस्रामपुर का संत, प्र0सं0-1998 ई0
   प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
3. शिवप्रसाद सिंह – नीला चाँद, प्र0सं0-1988 ई0
   प्रकाशन स्थान – वाणी प्रकाशन,
   21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली
   – शैलूष, प्र0सं0-1989 ई0
   प्रकाशन स्थान – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
4. गोविन्द मिश्र – हुजूर दरबार, प्र0सं0 1981 ई0
   – तुम्हारी रोशनी में, प्र0सं0-1985 ई0
   – पाँच आंगनों वाला घर, प्र0सं0–1985 ई0
5. मैत्रेयी पुष्पा – अल्मा कबूतरी, प्र0सं0-2000 ई0
   प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
   – झूलानट, प्र0सं0–1999 ई0
   प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

– चाक, प्र0सं0-1997 ई0

प्रकाशन स्थान – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

– इदन्नमम्, प्र0सं0-1994

प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।

6. सुरेन्द्र वर्मा – मुझे चाँद चाहिए, प्र0सं0-1993, सातवां सं0-1998

प्रकाशन-स्थान – राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा0लि0 नयी दिल्ली।

– दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, प्र0सं0-1998

प्रकाशन-स्थान – राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली

7. शिवानी – चल खुसरो घर आपने, प्र0सं0-1982

प्राकशन-स्थान – सरस्वती बिहार, दरियागंज, नयी दिल्ली।

8. प्रभा खेतान – पीली आँधी, प्र0सं0-1996

प्रकाशन-स्थान – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

9. कृष्णा सोबती – दिलोदानिश, प्र0सं0-1993

प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

– समय सरगम, प्र0सं0-2000

प्रकाशन स्थान – राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली।

10. मृदुला गर्ग – अनित्य, प्र0सं0-1982

प्रकाशन-स्थान – नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नयी दिल्ली

कठ गुलाब, प्र0सं0–1998

प्रकाशन - स्थान – भा0ज्ञा0 प्र0, नयी दिल्ली

11. चित्रा मुद्गल – एक जमीन अपनी, प्र0सं0-1990

प्रकाशन-स्थान – प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

– आवाँ, प्र0सं0-1999

प्रकाशन-स्थान – सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली

12. विवेकी राय – सोनामाटी, प्र0सं0-1983

प्रकाशन-स्थान – प्रभात प्रकाशन दिल्ली

– समर शेष है, प्र0सं0-1988

प्रकाशन-स्थान – प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

13. शैलेश मटियानी – गोपुली गफूरन, प्र0सं0-1990

प्रकाशन-स्थान – विभा प्रकाशन, इला0

– बावन नदियों का संगम, प्र0सं0-1981

प्रकाशन-स्थान – परिमल प्रकाशन, इला0

14. अमृतलाल नागर – अग्निगर्भा, प्र0सं0-1983

प्रकाशन स्थान – राजपाल एण्ड संस, दिल्ली

– खंजन नयन, प्र0सं0-1981

प्रकाशन-स्थान – राजपाल एण्ड संस, दिल्ली

– बिखरे तिनके, प्र0सं0-1982

प्रकाशन-स्थान – राजपाल एण्ड संस, दिल्ली

– करवट, प्र0सं0-1985

प्रकाशन-स्थान – राजपाल एण्ड संस, दिल्ली

15. निर्मल वर्मा – अंतिम अरण्य, प्र0सं0-2000

प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली पटना,

16. अलका सरावगी – कलि-कथा : वाया बाइपास, द्वि0सं0-1999

प्रकाशन-स्थान – आधार प्रकाशन पंचकूला हरियाणा

17. रवीन्द्र वर्मा – निन्यानबे, प्र0सं0-1998

18. मनोहर श्याम जोशी – कुरु-कुरु स्वाहा, प्र0सं0-1980

प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

– हमजाद, प्र0सं0-1998

प्रकाशन-स्थान – किताबघर नयी दिल्ली

19. चन्द्रकांता – अपने-अपने कोणार्क, प्र0सं0-1995

प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

20. विभूतिनारायण राय – शहर में कर्फ्यू, प्र0सं0-1986

सातवां सं0 – 2001

प्रकाशन-स्थान – अनामिका प्रकाशन

नया बैरहना, इलाहाबाद

21. अमृता प्रीतम – कोरे कागज़, प्र0सं0-1982

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

22. भीष्म-साहनी – कुन्तो, प्र0सं0-1993

– बसन्ती, प्र0सं0-1980

– नीलू नीलिमा नीलोफर, प्र0सं0-2000

प्रकाशन-स्थान-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

विषय परिधि के भीतर विवेच्य अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास

असमीया

1. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य – पाखी घोड़ा (अनुवादक-डॉ0 महेन्द्रनाथ दुबे)

   प्र0सं0-1990

   प्रकाशन-स्थान – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

2. होमेन बरगोहाई – मत्स्यगन्धा (अनु.– रमा भगवती)

   प्र0सं0– 1994

   प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नई दिल्ली

बँगला

3. आशापूर्णा देवी – लीला चिरन्तन (अनु. – डॉ0 रणजीत कुमार साहा)

   प्र0सं0– 1998

   प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

   – दृश्य से दृश्यान्तर (अनु0– ममता खरे)

   प्र0सं0– 1993

   प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

4. महाश्वेता देवी – सच-झूठ (अनु. – महाश्वेता देवी)

   प्र0सं0 – 1993

   प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

मैथिली

5. प्रभास कुमार चौधरी – राजा पोखरे में कितनी मछलियाँ

   (अनु. – विभा रानी)

   प्र0सं0 – 1997

   प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नई दिल्ली

उड़िया

6. प्रतिभा राय – उत्तर मार्ग (अनु.– शंकर लाल पुरोहित)

प्र0सं0 – 1997

प्रकाशन स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

गुजराती

7. डॉ0 केशुभाई देसाई – दीमक (अनु. – केसुभाई देसाई)

प्र0सं0 – 1993

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

मराठी

8. आनन्द यादव – जूझ (अनुवादक – केशव प्रथम वोर)

प्र0सं0 – 1999

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

10. लक्ष्मण गायकवाड़ – उठाईगीर (अनु. – सूर्य नारायण सुभे)

प्र0सं0 – 1992

प्रकाशन-स्थान – साहित्य अकादमी नयी दिल्ली

11. व्यंकटेश दि0माडगूलकर – बनगरवाड़ी (अनु.– र0रा0सर्वटे)

प्र0सं0 – 1989

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

डोगरी

12. वेदराही – अंधी सुरंग (अनु0 – यश सरोज)

प्र0स0 – 1998

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

उर्दू

13. कुर्रतुलऐन हैदर – चाँदनी बेगम (अनु. – डॉ0 वहाजउद्दीन अलवी)

प्रथम सं0 – 1996(पहला पेपर बैक सं0-1999)

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

कन्नड़

14. निरंजन – मृत्युंजय (अनु. – कान्तिदेव)

प्र0सं0 – 1989

प्रकाशन-स्थान – भा0ज्ञा0प्र0, नयी दिल्ली

तमिल

15. तोफिल मुहम्मद मीरान – बंदरगाह (अनु.- एच.बाल सुब्रह्मण्यम्)

प्र0सं0 – 1997

प्रकाशन-स्थान – नेशनल बुक ट्रस्ट आफ इण्डिया, नयी दिल्ली

मलयालम

16. एम0 टी0 वासुदेव नायर – कालम् (अनु.- डॉ0 एन0 पी0 कुट्टन पिल्लै)

अन्य सहायक उपन्यास

1. विवेकी राय – मंगल भवन, (हिंदी) प्रभात प्रकाशन दिल्ली प्र0सं0-1994
2. अमृतलाल नागर – पीढ़िया (हिंदी) सं0 – 1990
3. गोविन्द मिश्र – फूल इमारतें और बंदर (हिंदी)
4. सतीनाथ भादुड़ी – ढोढाय चरितमानस (बँगला) सं0– 1949
5. आशा पूर्णा देवी – न जाने कहाँ कहाँ (बँगला) (अनुवादक-ममता खरे) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली प्र0सं0-1998
6. लक्ष्मीनंदन बोरा – पाताल भैरवी (असमीया) (अनु.– नीता बनर्जी) साहित्य अकादमी प्रकाशन, दिल्ली, प्र0सं0-1996
7. चिवकुल पुरुषोत्तम – क्या है पाप (तेलुगु) (अनु. – सूर्यनाथ उपाध्याय) प्रकाशन-साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्र0सं0-1987

स .ायक ग्रंथ

1. हिंदी उपन्यास – डॉ0 सुरेश सिन्हा, द्वि0सं0-1972

   प्रकाशन-स्थान – लोक भारती प्रकाशन, इला0

2. हिंदी उपन्यास में व्यक्तिवादी चेतना – डॉ0 एन0के0 जोसफ प्र0सं0--1989

   प्रकाशन-स्थान – जवाहर पुस्तकालय सर बाजार मथुरा (उ0प्र0)

3. हिंदी उपन्यासों में वर्ग भावना – प्रताप नारायण टण्डन प्र0सं0-1956

   प्रकाशन-स्थान – नवभारत प्रेस लखनऊ

4 महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ

   – डॉ0 शील प्रभा वर्मा, प्र0सं0-1987

   प्रकाशन-स्थान – विद्या बिहार, गांधी नगर कानपुर

5. आधुनिक हिंदी उपन्यास सृजन और आलोचना – चंद्रकांत वांदिवेडकर

   प्र0सं0 – 1985

   प्रकाशन-स्थान – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली

6. समकालीन हिंदी उपन्यास – डॉ0 विवेकी राय, प्र0सं0-1987

   प्रकाशन-स्थान – राजीव प्रकाशन अलोपीबाग, इला0

7. आधुनिक उपन्यास : विविध आयाम – डॉ0 विवेकी राय

   प्र0सं0-1990

   प्रकाशन-स्थान – अनिल प्रकशन अलोपीबाग, इला0

8. उपन्यास का पुनर्जन्म – डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव

   प्र0सं0 – 1995 ई0

   प्रकाशन-स्थान – वाणी प्रकशन, दरियागंज, नयी दिल्ली

9. शिवप्रसाद सिंह : स्रष्टा और सृष्टि – संपादक – पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु

प्र0सं0 – 1995 ई0

प्रकाशन-स्थान – वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली

10. मोहन राकेश के कहानियों में आधुनिकता – प्रा० एम० एस० मुजावर संस्करण – 1995

प्रकाशन-स्थान – अलका प्रकाशन कानपुर

11. उत्तर आधुनिकता कुछ विचार – संपादक – देवशंकर नवीन, सुशान्त कुमार मिश्र

प्र०सं० – 2000 ई० वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली

12. हिंदी उपन्यास एक सर्वेक्षण – महेन्द्र चतुर्वेदी

स०– 1962 ई०

प्रकाशन स्थान – नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

13. हिंदी उपन्यास – शिवनारायण श्रीवास्तव

सं0- संवत् - 2096

14. प्रेमचन्द की उपन्यासकला – जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

संस्करण – 1941 ई0

प्रकाशन-स्थान – वाणी मंदिर छपरा

15. अमृतलाल नागर उपन्यासों में आधुनिकता – अनीता रावत

सं0-1998

प्रकाशन-स्थान – चन्द्रलोक प्र0 कानपुर

16. हिंदी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा – रामदरश मिश्र

पुनर्मुद्रित – 1995 ई0

प्रकाशन-स्थान – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली पटना

17. उपन्यास शिल्पी – गिरिरिजा किशोर

प्र0सं0-2000 ई0

प्रकाशन-स्थान –वाणी प्रकाशन नई दिल्ली

18. हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष – डॉ0 रामदरश मिश्र

प्र0सं0 – 1984 ई0

19. गोदान : नया परिप्रेक्ष्य – डॉ0 गोपाल राय।

20. हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यास – डॉ0 शंकर बसंत मुद्गल

21. आधुनिकता और आधुनिकीकरण – डॉ0 मेघ।

22. नयी कहानी में आधुनिकता बोध – डॉ0 साधना शाह।

23. हिंदी उपन्यास : उद्भव और विकास, – सुरेश सिन्हा सं0–1965 ई0 नयी दिल्ली

24. भारतीय उपन्यास और ग्राम केन्द्रीय उपन्यास –भोला भाई पटेल, प्र0सं0-दिसम्बर - 2001 ई0

प्रकाशन स्थान – रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद

25. हिंदी उपन्यास : समकालीन विमर्श – डॉ0 सत्यदेव त्रिपाठी, प्र0सं0- 2000

प्रकाशन स्थान – अमन प्रकाशन, रामबाग कानपुर

26. हिंदी उपन्यास उत्तरशती की उपलब्धियां – विवेकीराय, राजीव प्रकाशन, दिल्ली

प्र0सं0 –1983

27. तुलनात्मक अध्ययन भारतीय भाषाएं और साहित्य – राजमल बोरा, स0 –1992

28. उपन्यास कला : एक विवेचन – जालादि विश्वामित्र सं0 - 1962

29. उपन्यास का आंचलिक वातायन – डॉ0 रामपत यादव स0 –1985

30. उपन्यास शिल्पी गिरिराज किशोर – संपा0 डॉ0 ए0 अरविंदाक्षन

वाणी-प्रकाशन, नई दिल्ली प्र0सं0 –2000

31. भारतीय साहित्य तुलनात्मक अध्ययन – डॉ0 ब्रजेश्वर वर्मा, सं0– 1967

32. भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास – बिरिंच कुमार बरुआ

सं0 – 1956

33. भारतीय उपन्यास कथासार – खण्ड,-1, 2 – संपा0 प्रभाकर माचवे

लोकभारती प्रकाशन, इला0

34. भारतीय उपन्यासों में वर्णन कला का तुलनात्मक मूल्यांकन – इन्दिरा जोशी

सं0 – 1973

35. भारत और पश्चिम : संस्कृति के अस्थिर संदर्भ – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी

लोकभारती प्रकाशन, इला0 प्र0सं0 – 1999

36. हिंदी उपन्यास और जीवन मूल्य – मोहिनी शर्मा सं0 – 1986

37. हिंदी उपन्यास और नारी समस्याएं – स्वर्णकान्ता तलवार, सं0 – 1992

38. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद – डॉ0 त्रिभुवन सिंह, शक संवत् – 2022

39. हिंदी उपन्यास का इतिहास – प्रो0 गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

प्र0सं0 – 2002

40. हिंदी उपन्यास का उद्‌भव और विकास – डॉ0 प्रतापनारायण टण्डन, सं0 1975

41. हिंदी उपन्यास का उद्‌भव और विकास – उमेश शास्त्री सं0 –1987

42. हिंदी उपन्यास का विकास – डॉ0 सरदार सिंह, सूर्यवंशी सं0 1986

43. हिंदी उपन्यास : परम्परा और प्रयोग – डॉ0 सुभद्रा सं0 –1974

44. हिंदी उपन्यास पहचान और परख – संपा0 इन्द्रनाथ मदान

45. हिंदी उपन्यास महाकाव्य के स्वर – शन्ति स्वरूप गुप्त सं0 1971

46. हिंदी उपन्यास में मनोभावों का स्वरूप – गोपाल जी पाण्डेय

सुलभ प्रकाशन लखनऊ, प्र0सं0 – 1999

47. हिंदी और तेलुगु एक तुलनात्मक अध्ययन – जी0 सुन्दर रेड्डी सं0 1967

48. हिंदी और तेलुगु के स्वातंत्र्यपूर्व ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन – सुब्बाराव चलसानि
49. हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन – चन्द्रकान्त महादेव वांदिवडेकर सं0 – 1969
50. हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यास – शंकर वसंत मुद्गल सं0 – 1992
51. बँगला साहित्य का इतिहास – सुकुमार सेन
52. बँगला साहित्य-दर्शन – मन्मथ नाथ गुप्ता, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली सं0 – 1960
53. हिंदी लेखिकाओं के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में पुरुष-कल्पना – उर्मिला प्रकाशन, सं0 – 1992
54. हिंदी उपन्यासो के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में मध्यवर्ग के पुरुष – उर्मिला प्रकाशन सं0 - 1991
55. हिंदी के आंचलिक उपन्यास – डॉ0 रामदरश मिश्र, ज्ञान चन्द्र गुप्त, सं0 – 1984
56. हिंदी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि
– आदर्श सक्सेना, सं0 – 1971
57. हिंदी के प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार – डॉ0 शकुन्तला सिंह सं0 – 1990
58. उड़िया साहित्य : दिशा और परिवेश – अजय कुमार पट्टनायक सं0 – 1989
59. उड़िया साहित्य की उपलब्धियां – तारिणोचरणदास चिदानंद, सं0 – 1989
60. उपन्यास का शिल्प – संपा0 डॉ0 गोपाल राय देवेन्द्र नाथ शर्मा आचार्य,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी पटना प्र0स0 – 1973
62. आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य – इन्द्रनाथ मदान, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली द्वि0सं0 – 1978
63. हिंदी उपन्यास एक नई दृष्टि – इन्द्रनाथ मदान
64. आज का हिंदी उपन्यास – इन्द्रनाथ मदान

65. कन्नड़ साहित्य का इतिहास – एस0 मुगली (अनुवादक – सिद्ध गोपाल)
(हिस्ट्री आफ कन्नड़ लिटरेचर) प्रथम सं0 – 1971

66. तमिल साहित्य का इतिहास – मु0 वरदराजन (अनुवादक -एम0 शेषन)
(हिस्ट्री आफ तमिल लिटरेचर) प्र0सं0 – 1994

67. बॅगला साहित्य का इतिहास – सुकुमार सेन
(हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर) (अनुवादक – निर्मला जैन, प्र0सं0– 1971

68. मलयालम साहित्य का इतिहास – पी0के0 परमेश्वरन नायर
(मलयालम् साहित्य चरित्रम्) (अनुवादक – सी0आर0 नानप्पा)
प्र0सं0 – 1968

69. आधुनिक हिंदी उपन्यास – भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पटना सं0 – 1980

70. नयी समीक्षा : नये संदर्भ – डॉ0 नगेन्द्र।

71. हिंदी-कन्नड़ – अंग्रेजी : त्रिभाषा कोश – केन्द्रीय हिंदी निदेशालय।

72. व्यास सम्मान (1991–1999) – के0के0 बिड़ला फाउंडेशन
वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली प्रथम सं0 – 2000

पत्रिकाएँ

1. कथाक्रम – संपा0 शैलेन्द्र सागर अंक – अप्रैल-जून 2001 ई0
अक्टूबर-दिसम्बर 2000 ई0
प्रकाशन – लखनऊ

2. साक्षात्कार – (संपा0) – आग्नेय, अंक – मार्च-2000 ई0

3. अक्षरा – (प्रधान संपा0) – गोविन्द मिश्र, अंक – अक्टूबर-दिसम्बर 2000 ई0

4. पल प्रतिपल – (संपा0) देश निर्मोही, मार्च-जून – 1999 ई0
प्रकाशन-हरियाणा, जुलाई-सित0 2001 ई0
सितम्बर-दिस0 – 1999 ई0

5. कसौटी –9 – नंद किशोर नवल

6. माध्यम – संपादक – डॉ0 सत्य प्रकाश मिश्र, अंक - अक्टूबर-दिसम्बर 2002

प्रकाशन - इलाहाबाद

7. आजकल – सुभाष सेतिया, अंक – दिसम्बर – 2000 ई0

प्रकाशन – पटियाला हाउस नयी दिल्ली

8. उत्तर प्रदेश – प्रधान संपा0 लीलाधर जगूड़ी, अंक, जनवरी 1999

प्रकाशन – हजरतगंज लखनऊ, उ0प्र0

9. साहित्य अमृत – संपा0 – विद्यानिवास मिश्र, अंक – जुलाई-2000

प्रकाशन – आसफ अली रोड, नई दिल्ली

10. वर्तमान साहित्य – प्रबंध संपादक – रघुनाथ शर्मा

अंक (मई-जून- 1998)

प्रकाशन - गाजियाबाद

□□□